

परिषद् निबन्धावली

द्वितीय भाग

[प्रयाग विश्व विद्यालय हिन्दी परिषद् में, हिन्दी-
साहित्य के विविध श्रमों पर, पढ़े गये
विवेचनात्मक निबन्ध]

सम्पादक
श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा एम्० ए०
[अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय]

प्रकाशक
साहित्य मन्दिर, टागोर्गज, प्रयाग

प्रथम बार {

मार्च १९११

{ मूल्य तारकी रु० १/१
मजिदर ११०

भूमिका

परिपद्-निबन्धावली का दूसरा भाग हिन्दी प्रेमियों के सामने है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रयाग विश्व-विद्यालय-हिन्दीपरिपद् २८-३० में पढ़े गये कुछ निबन्ध संगृहीत हैं। शेष निबन्धों कुछ कई कठिनाइयों के कारण दूसरे भाग में सम्मिलित किये जा सके। ये निबन्ध संभवतः भाग ३ में प्रकाशित किये जायेंगे।

परिपद्-निबन्धावली भाग १ के स्वागत से उन्माहित होकर परिपद् ने भाग २ हिन्दी प्रेमियों के सामने रखने का मातम है। परिपद् को विश्वास है कि पारसी हिन्दीप्रेमी इस भाग भी हृदय से स्वागत करेंगे। इन निबन्धों की छपाई की समस्त देखभाल श्री रामगुमार वर्मा एम्. ए. ने की है। अतः वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

धीरेन्द्र वर्मा



परिषद् निबन्धावली

द्वितीय भाग

[१९२८-२९ १९२९-३०]

१. मीरॉवाँर्ड की जीवनी और कविता पर कुछ विचार—
कुँवर कृष्ण वी० ए०
२. हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव
—गणेशप्रसाद द्विवेदी एम्० ए०
३. भारत में समाचारपत्रों का विकास और हिन्दी अखबार-
नवनीमी पर एक दृष्टि
—रामधर दुबे वी० ए०
४. हिन्दी-साहित्य में सामाजिक इतिहास
—रमाशंकर शुक्ल वी० ए०
५. कवीर सिद्धान्त और रहस्यवाद
—सोमनाथ गुप्त वी० ए०
६. अयोध्याकांड के मुख्य पात्रों पर धर्ममकद और उनका
निर्वाह
—बलभद्रप्रसाद मिश्र वी० ए०
७. कविवर नन्ददास कृत रासपचाध्यायी
—रामकुमार वर्मा वी० ए०



रिपट्-निबन्धावली

द्वितीय भाग



मीराबाई की जीवनी

और

कविता पर कुछ विचार

मीराबाई की जीवनी, सत्यता के इतिहास में,
जीवनी एक विशिष्ट पहलू है। उसमें शैक्षिक और
आर्थिक बातें ही प्रकाश की, बालों का सम्बन्ध है। गुरुकुल

से सम्बन्ध होने पर भी वे उससे विरक्त थीं, और भक्त होने के साथ-साथ कवि थीं। उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य गिरिधर के प्रेमका कीर्तन करना था, मानो भक्त की भावुकता और कवि की रसिकता मीरा के स्वरूप में प्रादुर्भूत हुई थी। परन्तु जिस समय हम उसी मीरा के विषय में कुछ लिखने का प्रयास करते हैं, उसी समय हमारे सामने बाधाओं का एक बड़ा पहाड़ आकर खड़ा हो जाता है। इसका कारण प्रामाणिक सामग्री का अभाव है।

किसी लेखक के विषय में कुछ जानने के केवल दो साधन साधन हैं - आन्तरिक और बाह्य। मीरा की कृति-स्वरूप हमें केवल थोड़े से पद, कई पुस्तकों में संग्रहित, मिलते हैं। ये पद प्रधानतः उनकी प्रगाढ़ भक्ति के प्रदर्शक हैं और केवल गौण रूप से उनकी जीवनी पर प्रकाश डालते हैं।*

बाह्य साधन दो प्रकार के हैं—तत्कालीन एवं आधुनिक। इनके विषय में यद्यपि कोई तत्कालीन ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता,† पर भक्त-ग्रंथों में इनका उल्लेख कई बार हुआ है।

* अब्दावली—पृ० २६ शब्द ५९; पृ० ६७ शब्द ३२, पृ० ६५ शब्द २६, पृ० २५ शब्द ५९, पृ० ३७-३८ श० १-२, पृ० ५३ श० ४ आदि।

† तुजुक बायरी, आहने अक्यरी, मुहणोत नैणसी की रयात (पृ० ३६८) (पृ० १७३) (पृ० ४७)

नाभादास ने अपने भक्तमाल* में इनके प्रेम की महिमा पर एक पद लिखा, तो उनके टीकाकार प्रियादास ने जन्मभूमि, श्वसुर-गृह के कष्ट, अकबर से भेट आदि दन्त-कथाओं का पूरा ब्योरा ही लिख डाला। मूल गोसाई-चरिता में तुलसी को पत्रिका भेजने का उल्लेख है, तो 'वैष्णवों की वार्ताओं' में भी आचार्यजी की संविकान यत्ने के कारण उनकी निन्दा करा डाली गई है। अस्तु, इन प्रथो की महायता मावधानी से लेनी चाहिए।

आधुनिक उल्लेखों में टाट "राजग्यान,"^१ मुं० देवीप्रसाद-रचित "श्रीमोरावाई का जीवन चरित", गौरीशंकर हीराचन्द श्रीमा निम्बित "उदयपुर राज्य का इतिहास"^२ तथा खविराजा

* भक्तमाल पृ० १९४-२०४; Selections by L. Siva Ram
Hoc 11 p 336 II

१ भागरा प्र० पत्रिका भाग ० न० १९८३ पृ० ३३५ प ३०३

२ श्रीमता वैष्णवों की वार्ता न० ५४ पृ० ३०३ ८; न० ९३ पृ० ३४३ ६८, न० ४३ पृ० १६३ १६३, ६१ श्रीवायन वैष्णवों की वार्ता—न० १५ पृ० ६४ ६९, १४० ४८ पृ० १०६ ७; पृ० ४३४ ३५

३ शह राजग्यान (दासग० सं०) भाग १ पृ० ३३७; भाग २ पृ० ७५३; भाग ३ पृ० १८१८

— पृ० २०१; २३, ३३० ३६; ३४७; ३५८ ६० १ सं० २ पृ० ३५८; पृ० ३३६

श्यामलदास एव हरविलास शारदा के लेख' प्रधान साधन हैं। जनश्रुति तथा चारण गाथाओं के आधार पर होने के कारण "राजस्थान" इतना विश्वसनीय नहीं है, जितने इन वर्तमान ऐतिहासिक विद्वानों के उल्लेख, जो इतिहास-सम्बन्धी सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री के आधार पर बड़ी खोज के साथ लिखे गये हैं। अन्य लेखकों ने इन्हीं प्राचीन अथवा अर्वाचीन साधनों के आधार पर लिखा है। उनका उल्लेख करना केवल साधनों की नामावली बढ़ाना होगा।

* हरविलास शारदा कृत 'महराना सागा' पृ० ९५-९६ नोट। क० श्यामलदास कृत 'वीर-विनोद'

† ध्रुवदास शारदा कृत "भक्तनामावली" (L. Sita Rama selections Book II), शिवसिंह "मरोज" पृ० ४७५, कार्तिक-प्रसाद रात्री कृत "मीराबाई का जीवन चरित्र", मु० उवेदुल्लाखा फहर्ती कृत "तारीख तुहफए राजस्थान", जगदीशसिंह गहलोत "भारवाड का इतिहास", प्रियर्सन "मार्डन चर्नाकुलर लिट् रेचर" पृ० १२, फ्रेजर "लिट् रेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया" पृ० ३३७-३३८, की (key) "हिन्दी-लिट् रेचर पृ० २९, ग्रीवज पृ० ४६, मिश्रबन्धु "विनोद" पृ० २६२-६६, "काव्यदोहन भाग ७ पृ० १-५३ (मीराबाई), सीतारामशरण रूपकला 'मीराबाई की जीवनी', शिवनन्दनसहाय "श्रीगोस्वामी तुलसीदास पृ० ११०-११६, "सतीमडल" भाग ७ पृ० १४०-१४८ (K V Trivedi), "Wilson's Religious Sects of the Hindus"

मीरा के विषय में किसी घात की जाँच करने के लिए ये साधन ही एक मात्र सच्ची कसौटी हैं ।

मीराबाई के विषय में मुख्य भ्रान्ति उनके जीवन काल-कर्मकाण्ड पर है ।* चित्तौड़ में, कीर्तिस्तम्भ के पास, कुम्भ स्वामी

p 138 *Encyclopedia of Religion and Ethics* Vol 2 p 5466, Macnicols "Indian Theism" p 133 K. M. Thacker "Milestones in Gujarati Literature" p 28 33 and p 108, "The Sikh Religion" Vol VI p 342 (Reproduction of M. Macnicols's article in the *Indian Antiquary* 1901 'East & West' (April) 1910 p 728) 'सूषा (पाण्डुस म० १९८४), 'सापुरी (सैय म० १०८४) 'सगन्ना' (१९६१, १९६६ १०६९) तम प्र० प० भाग १ पृ० ११४ *Mirabai her life and Songs* (New Delhi Bharati Jnan 1970 121) आदि

* १ गीत सं० १४००-१५२५ के बीच में; दुसरे की पुरी—कुम्भ की राणी ।

२ भिखारिंद तथा विषमंन सं० १४०० गीता सं० १४३५ पति मरतु; रतिपापिरति की पुरी—कुम्भ की राणी ।

३ कानिबदवाद म० १५०५ अथ, अथवा की पुरी—कुम्भ की राणी ।

४ अयोरा तथा का सं० १४६०-१५६० के बीच में कुम्भ के दुसात्र भाग का पता

५ बे० मा० विवेका सं० १४८० अथ सं० १४९५ निरुद्ध सं० १५६० मरतु; अथवा की पुरी; दुसात्र कुम्भ की राणी

आदि-वराह के दो विष्णुमन्दिर, एक ही ऊँची कुसी^१ पर, पास-पास बने हुए हैं। लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराना कुम्भ ने और छोटा उनकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराना कुम्भ की रानी लिख दिया है, जो भ्रमपूर्ण है। सम्भवतः मीरा इस मन्दिर में पूजन-कीर्तन करती रही होंगी। कुम्भश्याम (कुम्भस्वामी) का मन्दिर, जिसे लोग भ्रम से 'मीराबाई का मन्दिर' कहते हैं, स० १५०५ में महाराना कुम्भ ने बनवाया था। उनमें उक्त सवत् की यह प्रशस्ति है—

“कुम्भस्वामिन आलय व्यरचयच्छोकुम्भकणो नृप †”

इस प्रकार एक मात्र पक्के प्रमाण को, जिस पर टाड साहब

६ हरिश्चन्द्र स० १६२० - ३० मृत्यु ।

७ तपस्वीरामजी म० १६४५ मृत्यु, रघुसेन पुत्री—

भोजपट्टी ।

८ देवीदास, श्यामलदास, सारदा तथा ओम्ना जी म०

१५५५-१६०३ के बीच, रघुसिंह पुत्री—भोजपट्टी

९ मिश्रयन्धु तथा प्रोवज जन्म स० १५७३, रघुसिंह

पुत्री भोजराज पट्टी ।

१० मेकालिफ प्रभृति स० १५६१-१६०३, रघुसिंहपुत्री—

भोजराज-पुत्री ।

११ अनाथनाथ बन्धु

† उदयपुरराज्य का इतिहास (ओम्ना) पृ० ५१, पृ० ३१०, पृ०

का मत निर्भर था, वास्तुकला विशारदों ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। यदि टोंड साह्य ने यह प्रशस्ति पद ली होती, तो आन मीरा के जन्मकाल पर अनेक मत न होत।

माथ ही अन्य उपलब्ध साधनों से भी उन्होंने सहायता नहीं ली जान पड़ती, क्योंकि मीरा ने अपना परिचय स्वयं इस प्रकार किया है—

“मेढतिया घर जनम लियो हे मीरा नाम कहायो”* ।

मीरा की इस पंक्ति से उनके जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। राठौड़ों की प्रसिद्ध मेढतिया शाखा के जन्मभूमि, राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर के सव्यापक राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूराजी थे, जिनका जन्म स० १८९७ में हुआ था। राव दूराजी पड़े परामर्शी थे। उन्होंने निजवाह्यन द्वारा स० १५१८ में मेढो में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर मेढतिया शाखा बनाई।† अतएव मेढतिया जी का जन्म स०

१५८-९०

* गद्यशास्त्रा पृ० ६० भाग ३२

नोट—मीरा की जन्मभूमि में मेढतिया का मेढनगा या राठौड़ की कहने से, निम्नलिखित बातें हैं कि वे मेढतिये राठौड़ों के होती थी। १५५५-५६ में बहू को प्रायः निम्नलिखित निम्नलिखित के नाम से सम्बोधित किया गया है, तथा राठौड़ों, काहावरा या काहावरावाये।

† गद्यशास्त्र का इतिहास (जगद भर्गव महाराज) भाग (पञ्चम) पृ० १५४५) भाग प्र० ५३५ (भाग १ पृ० ११५)

आदि-वराह के दो विष्णुमन्दिर, एक ही ऊँची कुसी^१ पर, पास-पास बने हुए हैं। लोगो में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराना कुम्भ ने और छोटा उनकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराना कुम्भ की रानी लिख दिया है, जो भ्रमपूर्ण है। सम्भवतः मीरा इस मन्दिर में पूजन-कीर्तन करती रही होंगी। कुम्भश्याम (कुम्भस्यामी) का मन्दिर, जिसे लोग भ्रम से 'मीराबाई का मन्दिर' कहते हैं, स० १५०५ में महाराना कुम्भ ने बनवाया था। उनमें उक्त सब वत् की यह प्रशस्ति है—

“कुम्भस्त्रामिन आलय व्यरचयच्छोकुम्भरुणो नृप †”

इस प्रकार एक मात्र पक्के प्रमाण को, जिस पर टाड साहब

६ हरिश्चन्द्र स० १६२०—३० मृत्यु।

७ तपस्वीरामजी स० १६४५ मृत्यु, रत्नसेन पुत्री—

भोजपत्नी।

८ देवीदास, श्यामलदाम, सारदा तथा ओम्ना जी स० १५५५-१६०३ के बीच, रत्नसिंह पुत्री—भोजपत्नी

९ मिश्रबन्धु तथा ग्रीज जन्म स० १५७३, रत्नसिंह पुत्री भोजराज पत्नी।

१० मेकालिफ प्रभृति स० १५६१-१६०३, रत्नसिंहपुत्री—भोजराज-पुत्री।

११ अनाथनाथ बसु

† उदयपुर राज्य का इतिहास (ओम्ना) पृ० ५१, पृ० ३१०, पृ०

का मत निर्भर था, वास्तुकला विशारदों ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। यदि टॉड साहब ने यह प्रशस्ति पद ली होती, तो आज मीरा के जन्मकाल पर अनेक मत न होते।

माथ ही अन्य उपलब्ध माधनों से भी उन्होंने महायता नहीं ली जान पड़ती, क्योंकि मीरा ने अपना परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

“मेड़तिया घर जनम लियो है मोग नाम कहायो”^१।

मीरा की इस पक्ति से उनके जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। राठीड़ों की प्रसिद्ध मेड़तिया शाखा के जन्मदाता, राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर के म स्थापक राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजी थे, जिसका जन्म स० १४९५ में हुआ था। राव दूदाना बड़े परारमी थे। उन्होंने निजवाहुवा द्वारा स० १५१८ में मेड़ते में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर मेड़तिया शाखा बनाई।^२ अतएव मेड़तिया जोषा जन्म स०

१५८०-९०

^१ शरदाभारती पृ० ६० शब्द ३३

सूत्र—मीरा की उपर्युक्त श्लोक में मेड़तिया का मेड़तियों का शब्द ही कहते थे, जिसका अर्थ है कि वे मेड़तिये राठीड़ों के बनीं थीं। उपर्युक्त श्लोक में वह को प्रायः सिन्धुवा या सिन्धुवा के नाम से संबोधित किया गया है; यथा शरदाभारती, अक्षरानुसंधान या वाक्यानुसंधान।

^२ मीराबाई का इतिहास (प्रकाशित १९१९) मया (कलकत्ता स० १९८३) का २० पृ० १३५ (पृ० १३५-१३६)

१५१८ में, या उनके बाद हुआ होगा। महाराना कुम्भ सं० १५-२५ में अपने पुत्र ऊना के हाथ से मारे गये। तो क्या मीरा का विवाहादि सं० ७ वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गया? फिर उन्होंने कुम्भश्याम का मन्दिर, जिसका निर्माण-काल सं० १५०५ निश्चित हो चुका है, कब बनवाया होगा, जब कि उनके माने जानेवाले पिता (दूदा जी) का जन्म सं० १४८७ में हुआ था?

टाड साहब के मतानुसार मीरा को कुम्भ की रानी मानने में और भी कई कठिनाइयाँ हैं। मीरा ने राणाजी द्वारा कष्ट दिये जाने का उल्लेख किया है। अतएव प्रश्न उठता है कि वे राणा कौन थे?

कुम्भ स्वयं परम वैष्णव तथा कृष्णभक्त थे। उनके बनाये विष्णुमन्दिर तथा गीतगोविन्द की टीका ही इसके प्रचुर प्रमाण हैं। टीका के “श्रीगोविन्द पदारविन्द मकरन्द चचद्विरेफेण” “हृदीश पर वासुदेव निधत्ते” आदि प्रकरण उनकी कृष्ण-भक्ति के परिचायक हैं। अतएव उनका अपनी पत्नी को गिरिधरकी भक्ति से रोकना और उन्हें नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाना असंभव प्रतीत होता है। तब फिर मीरा को किस राणा ने कष्ट दिये? कुम्भ के पिता मोकलदेव ने, अथवा कुम्भ के उत्तरा-

धिकारी उगा ने ? मीरा के पिता दूताजी का जन्म स० १४९७ में हुआ था और युवराज कुम्भ पिता की मृत्यु के पश्चात्, स० १४९० में, गद्दी पर बैठे ।* इमका अभिप्राय यह है कि मीरा के माने जानेवाले पिताका जन्म, उनके माने जानेवाले पति के सि हामना-रूढ़ होने के भी ७ वर्ष पश्चात् हुआ । अतएव मीरा का युवराज कुम्भ से विवाह होना असम्भव है और मोक्षदेव मीरा के यह समुर नहीं हो सकते, निम्नका उल्लेख मीरा ने किया है । यह समुर घातक में कौन हो सकते हैं, यह हम आगे दिग्यायेंगे । अथ रहा कुम्भके उत्तराधिकारी के विषय में, मां थे उनके पुत्र (न कि देवर) उदा (उद्यकर्ण) । मीरा ने स्वयं देवर से कष्ट पाने का उल्लेख किया है । यदि यह बात हम सच मान ले, और जिसे मूठ मानने का कोई कारण प्रस्तुत नहीं होता, तो यह सिद्ध ही है कि मीरा का विवाह कुम्भ से नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से समुर और देवर का मीरा के लिये उल्लेख असंभव निर्धारित हो जाते हैं ।

“की” महाशय या यह मत कि कुम्भ के उत्तराधिकारी पुत्र मोक्ष उदा के भाई थे, इतिहास-विरुद्ध है । उन्होंने कल्पित यह कल्पना इमागित की होगी कि उदा कर्म में यह प्रकल्पित हो जायगा कि मीरा का विवाह मोक्ष से हुआ और उसका कष्ट दिये

* महाशय कुम्भ (१४९७)

† कादम्बर-सूक्त भाग ७ पृ ४१; पृ ४०, पृ ५० । १९४५

‡ K. S. H. S. L. p. 117 f. 2

अवश्य दे दिया है।* सम्भवत इन उल्लेखों का मूल आधार राज्य के लेखों, वशावलियों, जन्म-पत्र तथा जनश्रुति पर होगा। आधार चाहे कुछ हो, कम से कम उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से सहायता अवश्य ली गयी है, और अनुमान भी युक्तिसंगत ही हैं। हमारी समझ में इस मत के मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती। हाँ, स० १५५५ की अपेक्षा स० १५६० के आसपास जन्म होना अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है।

रत्नसिंह के ज्येष्ठ भ्राता वीरमदेव का जन्म स० १५३४ में दिया हुआ है।† और जब रत्नसिंहजी चतुर्थ पुत्र थे ‡ तो उनका जन्म स० १५३९-४० के लगभग हुआ होगा। यदि मीरा के जन्म के समय उनके पिता की आयु २० वर्ष की मान ली जाय, तो स० १५६० के आसपास उनका जन्मकाल अपने आप निकल आता है। मीरा के पति भोजराज की आयु पर विचार करने से भी हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं। भोज के पिता महाराना सागा का जन्म स० १५३९ में हुआ था।§ यदि भोजराज के जन्म के समय उनके पिता की आयु २० वर्ष की होगी, तो भोजराज का जन्म

* महाराजा सागा (शारदा) पृ० ९५ ९६ फुटनोट

† ना० प्र० पत्रिका भाग १ पृ० १४४, सरस्वती (जनवरी १९१५)

‡ सुधा (फाल्गुन स० १०८४)

§ महाराजा सागा (शारदा) ना० प्र० प० भाग १ पृ० ११४

स० १५५९ के लगभग होना चाहिए ।* और यदि वह अपनी पत्नी से एक-दो वर्ष भी बड़े होंगे तो मीरा का जन्म स० १५६० के लगभग निकल आता है ।

प्रसिद्ध है कि मीरासाई ने अपनी माम की आज्ञा का उल्लंघन किया ।† कदाचिन् इमी वारण इन् लोगों का यह अनुमान है ।‡ कि विवाह के समय (स० १५७३) मीरा की अवस्था १७-१८ वर्ष की रही होगी,; अन्यथा ऐसा होना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है । यह अनुमान कुछ असंगत ठहरता है । यदि भोजराज मीरा से एक-दो वर्ष बड़े होंगे तो (इस अनुमान के अनुसार) उनका जन्म स० १५५३ के आसपास होना चाहिए जिसका प्रभिप्राय यह हुआ कि महाराना भागा की १४ वर्ष (१५५३-१५३९) की अवस्था में ही भोजराज का जन्म हुआ होगा । नैगर्मी की मृत्यु के अनुसार तो भोजराज स्पष्ट पुत्र भी न थे, * फलतः १४ वर्ष के और भी पहले राना भागा के एक-दो संन्तान हो चुकी होगी, जो व्यवहार विरुद्ध प्रतीत होता है ।

* नोट—मैलगी की मृत्यु के अनुसार तो भोजराज जब पुत्र प्राप्त हुए तब २० वर्ष तकम राना की आयु में प्रथम और तब तक रहे ।

† इतिहासकार १५०-३०

‡ नोट—कुछ लोग शायद कदाचिन् कालिक कायु में विवाह होने का एक व्यवहारानुगत मानते हैं ।

४ १०-१०

मीरा का जन्म स० १५६० के आसपास मान लेने पर केवल एक आपत्ति होती है। इन लोगों के अनुमान के अनुसार मीरा की आयु विवाह के समय १७-१८ वर्ष की तथा पुत्र जन्म होने पर सागा की केवल १४ वर्ष की निकलती है और स० १५६० मान लेने पर मीरा की आयु १३ वर्ष तथा भोज के पिता की १९, २० वर्ष। हमारे विचार में स० १५६० ही के आसपास मीरा का जन्म हुआ होगा, क्योंकि १३ वर्ष की अवस्था में विवाह होना इतना आश्चर्यजनक नहीं है, जितना कि प्रथम सतान के उत्पन्न होने पर पिता की आयु का १४ वर्ष होना, प्रत्युत कई लेखकों ने मीरा का विवाह ११ वर्ष ही में होना लिखा है। कदाचित् इसी लिए मेकालिफ न इनका जन्म स० १५६१ (1504 A C) के लगभग माना है। मिश्रवन्धुआ तथा श्रीरज ने भूल से विवाह-तेथि (स० १५७३) को जन्म तिथि जाना है। भोजराज स० १५८० के लगभग ससार छोड़ चुके थे, तो विवाह किस आयु में और कब हुआ होगा ? प्रथम तो यह इतिहास विरुद्ध है, दूसरे

* "Mira Bai, her life and songs by "Anath Nath Basu, Indran Antiquary 1903

† Indian Antiquary 1903 "The Legends of Mira Bai by M. Macouliffe

‘विनाद’ पृ० ३६०-६६, प्रोजेक्ट पृ० ४६।

॥ उदयपुर राज्य का इतिहास (ओम्का) पृ० ४६।

जब इनके छोटे भाई (चाचा के लड़के) जयमल का जन्म मं० १५६४ में हुआ था,* तो इनका जयमल से पहने का होना चाहिये, न कि बाद को ।

मीरा को भोज की पनी मान लेने से इनके साम, समुर, देवर, ननू आदि के उल्लेखों तथा अन्य बातों का समाधान हो जाता है ।

अस्तु, हम निम्नोक्त मं० १५५५—१५६१ के बीच में मीरा का जन्म-काल मान सकते हैं, और सम्भवतः मं० १५६० के लगभग ही उसका जन्म हुआ होगा ।

मीरा के जन्म-स्थान के विषय में विशेष मतभेद नहीं है । श्रीमन्नथी प्रभुनि इनका जन्म-स्थान कुडकी या चौरकी मानते हैं ।

इनके पिता रत्नसिंह को कुडकी या चौरकी प्राणति

जन्म-स्थान १० गाँव, निवाँह के निच, मेरणा राज्य की ओर से, मिले थे ।^१ सम्भवतः इसका जन्म पिता की

आगे प्राणति के बाद ही हुआ होगा । दिवाणम ने इनका जन्म भूमि मेरणा^२ निवाँह है, और यह ग्राम मीरजे करण की ओर मानते तथा रघुसुन्दर में देवताओं की कहता है ।^३ इसका

* मं० प्र० पत्रिका भाग १ पृ० ११४

^१ रघुसुन्दर का इतिहास (भाग १) पृ० ३५० एवं भाग २ पृ० ३५० 'मीराबाई का जन्म-स्थान' ।

^२ मन्मथलाल [दिवाणम पृ० २३३], मन्मथलाल पृ० ३०३ पृ० १३ पृ० ५५ मं० १८१ पृ० ३६३ पृ० ६०

कारण माता के बाल्य-काल ही में देहान्त होजाने पर इनका अपने दादा के यहाँ, मेडते में, अधिक काल तक रहना जान पड़ता है। मेडते का प्राचीन नाम मान्धातृपुर था। इसके स स्थापक मान्धाता प्रमार थे। स० १५१८ में मीराबाई के पितामह रावदूदाजी ने इसको पुनर्जीवन दिया।* मीरा का लालन-पालन करके मेडता सदा के लिए अमर होगया। मेडते से अजमेर की ओर २० कोस का प्रदेश आज भी उनके नाम से "मीराबाई का देश" कहलाता है। †कुडकी भी जोधपुर राज्यान्तर्गत मेडते के ठिकाने (इलाका) में ही है, अतः मेडतणीजी का जन्मस्थान या कम से कम पितृ-स्थान मेडता मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। त्रिवेदीजी ने इनका जन्म-स्थान नेरेटा लिखा है ‡ पता नहीं, पंडितजी को यह नाम कहीं से मिला। क्या यह प्रेस की कृपा है, या मेडते का कोई विकृत स्वरूप है ?

इनके पिता रत्नसिंहजी का परिचय दिया हो जाचुका है। इनकी माता के विषय में इतिहास से इतना ही पता चलता है कि

* महाराना कुम्भ (शारदा) मारवाड का इतिहास (जगदीशसिंह गहलोत)

नोट—महाराना सागा (शारदा) में पृ० ९५-९६ फुटनोट में स० १५२४ के बाद मेडते के राजा दूदाजी हुए।

† काव्य दोहन भाग ७, उदयपुर का इतिहास (श्रीका)

‡ सर्तिसागडल भाग १ पृ० १४०-४८

वे इन्हें बाल्यकाल ही में छोड़ परलोक सिधारीं ।
 माना पिता यह भी प्रसिद्ध है कि गिरिधर के इष्ट का प्रसूट
 कारण इनकी माता ही थी । एक दिन इन्होंने
 पद्मोम में एक कन्या का विवाह होते देखकर माता से पूछा— 'माँ,
 मेरा दून्दा कौन है ?' माता ने हँसकर गिरिधर की ओर उद्धारीं
 चढारीं ॥ जो कुद्व हो, इतना तो निश्चित है कि मातृवियोग के
 परिणाम इनके लदा दूदानी ने इन्हें अपने पास मेढ़ते सुला लिया,
 और वहीं इनका लालन-पालन हुआ ।

राव दूदानी परम वैष्णव तथा चतुर्भुज वं अनन्य भक्त थे ।
 उनके पास रहने से मीरा को पचपन ही से भगवद्भक्ति में विशेष
 रुचि उत्पन्न होगई । कहते हैं, एक बार एक माधू
 बाल्यकाल उनके पिता के घर रहता था । उनके पास गिरि
 धरों की एक सुन्दर मूर्ति थी, जिसको वाञ्छ
 पर मीरा ने प्राप्त किया था । यह मूर्ति उन्हें पढ़ी प्यारी होगई थी ।

* कल्याण राज्य का इतिहास (पृष्ठा) पृ० १५४ १०१ तथा पृ०
 'दत्तक' "

१ 'मीराबाई' पृ० १५४ १०१

२ 'दत्तक' (पृ० १५४) पृ० १५४

३ 'दत्तक' "दत्तक" का प्रयोग 'दत्तक' "

४ 'दत्तक' (पृ० १५४) पृ० १५४ ('दत्तक')

जहाँ अन्य बालिकाएँ अपनी गुडियो का त्योहार मनाती, मीरा अपने गिरिधरलाल के उत्सव मनाया करती । बचपन का यह रिलीना ही आगे चलकर उनकी प्रेमभक्ति का स्वरूप बना । यही गिरिधर की मूर्ति "मीरा के प्रभु गिरिधर नागर" में परिजर्तित होगई ।

दूदार्जा की मृत्यु के एक वर्ष बाद स० १५७३ में वीरमजी ने शिशोदिया कुलावतश हिन्दू-सूर्य महाराना सागा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज से उनका विवाह कर दिया ।*

विवाह [अनाथनाथ बसु ने विवाह-काल स० १५६७ के लगभग दिया है, और मीरा की आयु ११ वर्ष की । इस अनुमान को सत्य मानने से भोज की आयु में गड़बड़ी पडती है, क्योंकि इस समय भोज के पिता राना सागा की आयु केवल २८ वर्ष की थी ।]† विदा के समय सभी लड़कियाँ अपनी प्यारी चीजें अपने साथ लेजाना चाहती हैं, मीरा भी अपने गिरिधरलाल को साथ लेती गई । चित्तौड़ पहुँच अपने स्वामी की सेवा में लगीं, फिर भी उनका मन भगवद्भक्ति से तनिक भी विचलित न हुआ ।

* उदयपुर का इतिहास पृ० ३५८-३६०; महाराना सांगा नोट पृ० ९५-९६

† "Mirabai, her life and Songs by Anathnath Basu of Viswabharat"

प्रियादास ने लिखा है कि श्वसुर-गृह में देवी-पूजन पर सास से अनयन हो गई और इन्हे एकान्तवाम दिया श्वसुर-गृह गया । मीरा के एक-दो पद भी हम आशय के हैं—

“नहि हम पूजा गोरज्या जी, नहि पूजा अनदेव ।
परम मनेही गोभिन्दा, ये काई जानों म्हारो भेव ॥”*

ऐसी ही दन्तकथा तुनसीदासजी के बारे में भी प्रचलित है । वह युग साम्प्रदायिक मगड़ों का था । जिस युग में श्रीआचार्य जी की सेविका न होने के कारण अधिकारीजी ने मीरा की भेट हाथ तक से न छुई, उसमें ऐमा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं । दूसरे बचपन ही से वे गिरिधर को अपना इष्ट मान चुकी थीं, फिर भला अन्य देवता को सिर कैसे मुकाती ? स्वगन्तव्य के लिए यज्ञों का पहना मानना परिश्रमियों के लिए पार नहीं । इतना होने हुए भी ऐसी बयाएँ केवल दन्तमूलक गगतों हैं । सोधपुर और विन्दी के राजवंशों में सरासर वैशादिक सम्बन्ध होना क्या आया है । दोनों एक दूसरे के रीति-रिवाजों में परिचित थे । यद्यपि विन्दी के राजा विरोचनरा विरोच-भक्त थे, पर वहीं के पंदा के राजा कुम्भ ने विष्णुमन्दिरों की स्थापना की थी । देवी-पूजन की इस कथा के गट तों में भन्ने

* १८८७-८८, पृ. ३७, ३८, ३९ ।

१. देवीमन्दिर । २. मीराबाई की जीवनी-कविता, पृ. ३७-३८, ३९ ।

का क्या अभिप्राय था, यह समझ में नहीं आता। मीरा की तो आयु भी इतनी नहीं कि वह आते ही सास-ससुर की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस करती। केवल इतना ही नहीं, 'रूप-कलाजी' ने तो यहाँ तक लिखा है कि मीरा के सास-ससुर ने उनसे अप्रसन्न होकर भोजराज का दूसरा विवाह भी कर दिया।* यद्यपि इस आशय के एक-दो पद भी मिलते हैं कि इनकी पति से कुछ अनवन रहती थी,† परन्तु इनके चरित्र पर पूर्णरूप से विचार करने पर इन पदों को कल्पित ही मानना पड़ेगा। यह वृथा कलक है कि मीरा का पति पर प्रेम नहीं था। पति-सेवा के कारण देव-सेवा और देव-सेवा के कारण पति-सेवा में बाधा पड़ने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। ये सब झगड़े तो तब शुरू हुए, जब विधवा होने पर इनके यहाँ साधु-सत्तों की भीड़ लगी रहने लगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा के कुछ ग्रह ही अशुभ आ पड़े थे। पतिग्रह में आने पर ही कुछ दिनों पश्चात् सास-ससुर से अनवन रही। तैर, यह भी सहा, पर अभी और बहुत देखना था। कुछ वर्ष भी पति-सेवा न कर पाई थीं कि कठोर वैधव्य का प्रहार सहना पड़ा। इसी के दो वर्ष बाद उनपर

* "श्री मीराबाई का जीवनचरित्र व प्रीति"

† शब्दावली

‡ सती-मण्डल भाग १

दूमरा बख-प्रहार हुआ । स० १५८४ में खानवे के रणक्षेत्र में बाबर के विरुद्ध युद्ध करने हुए उनके पिता रत्नमि हजी मारे गये, और कुछ ही महीना बाद राणा सागा भी म मार श्रोत गये । इन मत्र अपशकुनों का कारण मीरा हो उठ गई । मीरा की दशा सोचते ही हिन्दू विषया का हरय सामने आ जाता है । फोर्ट मन्तान भी नहीं कि जिसे देख मन पटनाती । पति के अभाव म स्त्री के लिए परमेस्वर ही एकमात्र शांति का साधन है । मती मीरा ने सासारिक मोह में न पड़कर इमो मार्ग का अरनम्यन करना निश्चिन रिया । बखपन ही में मीरा के मन्का भक्ति-गृह के उद्गावक, पांपक तथा वर्द्धक थे । प्राचीन वान-मन्सार क कारण ये पुत्र मुाकर बिलगुनियों गिस्थिर में लागा ली । इम पवित्र प्रेन पर पका रङ्ग खदाने के लिए ही उदोने ममङ्ग किया—

‘मापूजन नो मङ्ग जो करिये, खदेत पौगजा रङ्ग रे ।

माखट चन नो मंग न करिये पहे भजन मे भंग रे ।’

खदेते हैं कि इमो समय उन्होंने देवमयी से मुञ्जोला गी

‘‘गणपत क. इतिहास’ (क. ५१) पृ० १५८ १६०, मुञ्ज कथा पृ० ५०२ ; देवपाराद

१. १०८८-१०९४ अंग ०

२. १०९४-१०९५ पृ० ११ १० ११

ली। तीन-चार पदों में रैदास का नाम अवश्य आया है,* पर वे कल्पित जान पड़ते हैं। भगतों ने तो यहाँ तक गढ़ लिया कि—

“भौंभ परावज वेणु वाजियो, मालरनो म्नकार।

काशी नगर का चौक मा, मने गुरु मडया रोहिदास ॥” †

रैदास मीरा के जन्म के पूर्व ही ससार छोड़ चुके थे। वे कैसे मीरा से काशी में मिल सकते थे! मीरा के भी तो काशी जाने का कोई उल्लेख नहीं है। रैदास रामानन्दी थे, मीरा कृष्ण-भक्त। जब उन्होंने वल्लभाचार्यजी की सेविका बनने से इन्कार कर दिया‡, तो समझ में नहीं आता रैदास को क्यों अपना गुरु चुनतीं! उनके गुरु ही नहीं वरन् सर्वस्व गिरिधरजी थे। जो मीरा अन्य देवता तरु को शिर झुकाना नहीं चाहती थी, वह ऐसा कैसे कर सकती थी? भक्तमाल (टीका) में रैदास चित्तौर की रानी झाली के गुरु लिखे गये हैं। झाली रानी रत्नकुंवर राना साँगा की माँ+ और रैदास की समकालीन थीं। गोकुलनाथजी

* शब्दावली पृ० २० रा० ४१, पृ० २५ श० ५७, पृ० ३६ रा० १४,

भा० पृ० ३७ श० १

† काव्य दोहन भाग ७

‡ Encyclopædia of Religion and Ethics, सन्नवानी-संग्रह
भा० १, Keay "Hindi Literature

¶ चौरासीवार्ता पृ० ३४२-३६८

+ ना० प्र० प० (कार्तिक स० १९८१), L. Sitā Ram's Selections (Saints Raidas)

ने जयमल की किसी 'बेन' के गुरु का नाम हरिदास लिया है।* गुजरात में रविदासी सम्प्रदाय का खोर था ही, इन्हीं में से किसी के आधार पर, भ्रम से, ये पद रैदाम का महात्म्य दिखानेके लिए उनके किर्मी शिष्य ने जोड़ दिये होंगे।

इस प्रकार मीरा अपने युवावस्था के मनाबेगों का दमनकर साधुमन्तों में भगवत्कीर्तन कर अपने दिन काटने लगीं। उनके देवरो को यह अच्छा न लगा। कुल के लोग बुरा-भजा बहने लगे तथा ईठरगढ़ आदि से डाहने भी थाने लगीं। राजाजी न मीरा की यह चाल पिसौट, की मर्त्याग के प्रशिष्टून ममगी। कहते हैं, पहले तो उन्होंने शम्बा शम्भे ती नाम की दो सखियों त्रिपुरा की कि मीरा के समझायें, फिर स्वयं डापी नन्द ऊदापाई पर ही इगका भाग रक्का गया। ऊदापाई का नाम राजा मीरा की पुरियों में नहीं दिया गया है*। सम्भव है, यह तुलसीदास आदि सोंगा के किर्मी भाई की पुत्री हो। मीरा विरक्त हो चुकी थी। निम्ने गिरिधर के प्रेम की चूत खोद गी, उसे राज-सुख में क्या प्रयोजन ? तारपी से यह दिया कि बाई जीं

* दो ही वाक्य संस्कृत की भाषा में १० १० १५ १९

† ३ संस्कृत १० १० १० २

‡ वाक्य संस्कृत भाग ३ : ३३३३३ (संस्कृत) १५ १० १३
४५ (३३३३)

५ संस्कृत का संस्कृत (संस्कृत)

“राज पाट भोगो तुम्हीं, हमे न तासू काम ।”*

इधर राना रत्नसिंह के बाद विक्रमादित्य राना हुए । विक्रमादित्य की दुष्टता इतिहास से छिपी नहीं है, जिसके फलस्वरूप ही उसे राज और जीवन दोनों से हाथ धोना पडा । उसने मोरा को हर प्रकार के कष्ट पहुँचाने शुरू किये,† कर्म की भाँति विपधर नाग और हलाहल तक्र का प्रयोग किया । भक्त मोरा ने इन कष्टों को अपनी भक्ति की कसौटी समझा । उनकी भक्ति, तपाये हुए सोने की भाँति, कुन्दन हो, भलकने लगी । आत्म-बल की विजय हुई । सच्चे प्रेम में कौन सो शक्ति नहीं होती । विप का प्रयोग निष्फल हुआ, विपधर नाग भी चन्द्रनहार होगया‡, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

कहते हैं कि विप का प्याला बीजावरगी (विजयवर्गीय) जाति का वैश्य मन्त्री ले गया था, जिसको यह शाप है कि धन और सन्तान दो में से एक उसके न होगा । इस विषय पर यह कहावत भी है कि—

“बीजावरगी वानियो, दूजो गूजर गौड ।

तीजो मिले जे दाइमो, करे टापरो चौड़ ॥”§

परन्तु मोराबाई ने स्वयं दयाराम पण्डे के हाथ से विप पाने का

* शब्दावली पृ० ४२ श० ६

† उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०

‡ शब्दावली पृ० ६५ श० २६

§ देवीप्रसाद “मोगयाई का जीवन-चरित”

उत्तेर किया है" । कुछ लोग कहते हैं कि इसी विषय से उन्होंने प्राण-त्याग किये । पर यह इतिहास-विरुद्ध है ।

एक दिन उन्होंने राणा से पूछा—“आप मुझ पर क्या रिमाये हो ? मैंने तो कुछ भी चुरा नहीं किया । जिन मालिक ने मुझे हमें, दोनो को, देह दी है, उसी का गुण मैंने गाया है । मेरी सृष्टि ब्रम्हाण्ड के साथ हुई थी, फेवल हम जन्म के नाते मैं मेद-तियां के घर उत्पन्न हुई हूँ ।” निरचय जानो कि—

“थारो मारो ना मरूँ, मारो रावराहारो और” ।

इस पर भी राणा को शौच न चुली । उसने मीरा को तनवार से मारने की सोची ।^१ जब उन्होंने जान लिया कि इसकी युधि ठियाने नहीं है तो कहा कि—

“मारवो परादित राग मी, मीने योगी पोंहर मेन” ॥—

उधर उनके बारा पोंगमजी ७ उनके कष्टो का समाचार सुन उनको घुगतो के गिर आदमी भेजे ।^२ राणा यह बादगा ही था कि ये उसकी शौचो के मामला से टंग जाव, तुम्हें पोंहर के आशुनियो के नाय तार्य-वाया श्री मीरारो करत हो ।

१. १७१११११। पृ० ६० ३१० ३२

२. १७१११११। पृ० ६० ३१० ३२

३. १७१११११। पृ० ६० ३१० ३६

४. १७१११११। पृ० ३१०

५. १७१११११। पृ० ६० ३१० ३६

६. १७१११११ व १७१११११ (१७११) पृ० ३१०

भक्त मीरा मथुरा, वृन्दावन, पुष्कर* आदि तीर्थों में होती हुई मेड़ते पहुँची। वृन्दावन में उन्होंने जीवगुसाई † के दर्शन करने चाहे। गुसाई जीने कहला भेजा कि वे स्त्रियों से तीर्थ-यात्रा नहीं मिलते। इसके उत्तर में मीरा ने कहलाया कि वृन्दावन में मैं सबको सरसीरूप जानती थी, पुरुष केवल गिरिधरलाल को सुना था, पर आज मालूम हुआ कि उनके और भी पट्टीदार हैं। प्रेम-रस में भीगे इन वचनों को सुनकर गुसाई जी अति लज्जित हुए और नद्वे पैर बाहर आकर मीरा को बड़े आदरभाव से अपने स्थान में लेगये। भागवत का यह ज्ञान, कि—

“वासुदेव पुमानेक स्त्रीमयमितरञ्जगत्”—

मीरा के माधुर्य्य भाव का परिचायक है, जो उनके प्रत्येक पद में देखा जा सकता है।

मेड़ते में भी मीरा शान्त न रह सकीं। जब आपत्तियाँ आती हैं, तो चारों ओर से आती हैं। स० १५९६ से मेड़ते में भी उपद्रव शुरू होगये। वीरभदेव से मेड़ता छीन लिया गया और अन्त में वे भी स० १६०० में परलोक सिधारे। ‡ यहीं तक मीरा का

* काव्यदोहन भाग ७, शब्दावली पृ० ६० श० १८, पृ० ४१ श० ५, पृ० ६१ श० १९

† प्रियादास की टीका, The Legend of Mirabai by Macauliffe (Indian Antiquary)

‡ “उदयपुर राज्य का इतिहास (ओम्का) पृ० ३६०, मीराबाई का जीवनचरित (दे० प्र०) काव्य-दोहन भाग ७

ऐतिहासिक परिचय हमें मिलता है। सम्भवत यहाँ से वे फिर घुन्दावन गईं और वहाँ कुछ दिनों निवास किया; क्योंकि उनके पत्रों में उनका घुन्दावन में काफी समय तक रहना सूचित होता है। पर जब ब्रजभूमि में मुसलपटानों के रणराग बजने लगे तो सम्भवत मयू १६१२-१३ के आम-वाम पुन चित्तौर की ओर खाना हुई। मेड़वे पर आपत्ति थी ही, जहाँ वहाँ? परन्तु चित्तौर में भी उनके लिए स्थान न था। राणा उदयसिंह के समय में चित्तौर में एक प्रकार से धराधर गढ़पड़ हो गयी रही। सम्भवत इसी समय उन्होंने मुसलपान के हाथ तुलसीदासजी के परित्रा भंगों दोगी, जो उन्हें मयू १६१६ के बाद मिला गयी थी।† इस समय रत्न, जहाज तो वे नहीं कि कोमों की यात्रा मिलनों में होजायी। यहाँ तो "नौ दिन चने अटाई काम" वाली ममल थी।

इसके बाद मोरा द्वागपयी गई, ‡ और (उपर्युक्त अनु-
मान के अनुसार) सम्भवत मयू १६२०-२१ के * पौष में
यहाँ परनभान भी प्राप्त हुई। प्रिगाणम ने विष्णु है कि चित्तौर में

* See the '... ..' in '... ..' in '... ..'

† मा. प्र. कविता भाग * मा. १९८३ पृ. ३२५ व पृ. ३५३

• विष्णुदास का शिका; उदयपुर का इतिहास पृ. ३१०।

• कविताभाष्य, विष्णुदासभाष्य पृ. ११५-११६ व ११७-११८।

१० ११०-१११ (११०-१११) (११०-१११)

उनको बुलाने के लिए आये हुए ब्राह्मणों के आग्रह करने पर उन्होंने कहा—“रणछोरजी से मिल लूँ” । इतना कह मन्दिर के अन्दर गई और मूर्ति में लीन हो गई ।

इनके देहान्त के समय का पता ठीक नहीं चलता । मुशी देवी-प्रसादजी ने भूरिदान भाट के कथन के आधार पर लिखा है कि इनका

अन्तकाल सवत् १६०३ मे हुआ ।* १६००-१६०१

मृत्यु-काल तक का पक्का ऐतिहासिक प्रमाण तो मुशीजी के पास है । यथासम्भव इस काल तक ये मेड़ते में ही रही होंगी । अब यदि ऊपर लिखी गई बातें सत्य माने, तो केवल एक-दो वर्षों में इतनी घटनाओंका होना यदि असम्भव नहीं, तो असङ्गत अवश्य प्रतीत होता है । तथैव उनके पद ही इस बात के पक्के प्रमाण हैं कि उन्होंने काफी समय रणछोरजी के सामने भक्तिकीर्तन में बिताया । गुजरात प्रदेश में मीरा के पद उसी प्रकार प्रचलित हैं, जिस प्रकार उत्तर भारत में रामायण की चौपाइयाँ । बड़े-बड़े प्रासाद से लेकर छोटी-मोटी कुटियों तक में, मीरा के गीत बड़े चाप से गाये जाते हैं । यदि मीरा गुजरात में केवल एक-दो वर्ष ही रही होतीं, तो वह इतनी ख्याति प्राप्तकर लेतीं, यह असम्भव है । क्या एक ही दो वर्षमें उनका गुजरात पर और गुजरातियों का उनपर इतना हक्क होगया कि आज मीरा को गुजराती भाई अप-

* 'मीराबाई का जीवन-चरित' (दे० प्र०) , उदयपुर का इतिहास (श्रीभा) पृ० ३६०

नाने के लिए इतना मगड़े ? समझ में नहीं आता कि राजस्थान के इतिहासकारों को सन् १६०३ क्यों ठीक जान पडा ।

बाबू राधाकृष्णदाम ने भक्तनामावली की टिप्पणी में लिखा है कि आगरा में प्रतिष्ठित मूर्ति का सन् १६११ का लग्न शायद मीराबाई का है । बाबा धेनीमाधवदाम ने उनका तुलसीदासजी को सन् १६१६ के लगनग पत्रिका भेजने का उल्लेख किया है और लजानेवाले सुगपाल का नाम भी दिया है* । प्रियादाम न तो भक्तमान की टीका में तुलसी के पत्र-व्यवहार के अतिरिक्त तानमेन-सहित अक्षर का उनके दर्शनार्थ आता भी लिखा है ।[†] इन उल्लेखों को सत्य मानने में कोई ऐतिहासिक आपत्ति नहीं दिगई देती । तुनाई तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५५५ में हुआ था सन् १६५६ में उनकी आयु लगभग ६० वर्ष की थी । न मात्रम वयो बाबू शिवादनमहाय को इतनी आयु होने पर भी उनकी ग्यति होने में सन्देह हुआ ।[‡] यदि उनकी इतनी ग्यति न होती कि मीरा पत्र भेजकर उनकी मन्त्रति लें, तो मूरदामजी क्यों उनके पास भेजे जाते कि जाकर उन्हें अपनी मूरमागर दिगाये ।

* का. प्र. इतिहास पत्र ७ भा. १९८३ पृ. ३५५ व ३५७

† विद्य दास क. टीका 'सामय-व्यवहृ', 'तुलसी' पत्रिका ।

‡ का. प्र. पृ. १०० भा. ७ भा. १९८३ पृ. ३५५ व ३५७

५ 'सिद्धांत-संग्रह' 'सिद्धांत-संग्रह' का 'व्यवहृति' पृ. ११०-१११

६ का. प्र. इतिहास पत्र ७ भा. १९८३

हम मानते हैं कि उनकी सुख्याति 'मानस'-रचना के पीछे ही हुई होगी, परन्तु क्या कवि तुलसीका सवत् १६३१ के पूर्व भक्त तुलसी होना भी असम्भव है ? फिर 'मानस' के पूर्व भी तो वे रचना कर चुके थे । हों यदि तुलसी का जन्मकाल सवत् १५८९ स्वयसिद्ध मान लें*, और साथ ही सवत् १६०३ में मीरा का मृत्युकाल मानें, तब तो अवश्यही १५ वर्ष की आयुमें तुलसीकी ख्याति नहीं होसकती । परन्तु "मूलगुसाई-चरित" में तुलसी का जन्मकाल सवत् १५५४ निश्चित है † । रहीं अकबर से भेंट, सो वह तभी सम्भव हो सकती है, जब मीरा का मृत्युकाल सवत् १६२९ के बाद माने । सवत् १६२९ (1572 A D) में अकबर ने गुजरात पर अपना अधिकार किया था ‡ । मीरा का नाम उस समय अवश्य ही गुजरात के कोने-कोने में सुनाई देता होगा । अकबर की प्रवृत्ति धर्मचर्चा को ओर थी ही, उसने अत-र भक्त

* रामगुलाम द्विवेदी; प्रिण्टर्स

† नोट—स० १५५४ में जन्म मानने से तुलसीदासजी की आयु मृत्यु के समय (स० १६८०) १२६ वर्ष की होती है । कुछ विद्वानों की सम्मति में इतनी आयु तक जीवित रहना असङ्गत जान पड़ता है । विशेषतया इतनी आयु में ग्रन्थ-रचना, करना तो असम्भव-सा है । पर क्या आज भी किसी-किसी को इतनी आयु प्राप्त नहीं हो जाती ? ग्रन्थ-रचना के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने रचना-आरम्भ भी तो देर में किया था ।

‡ Oxford History of India by Vincent Smith p 352

मीरा के स्थान की आवश्यक इच्छा की होगी । अतएव मीरा का मृत्युकारण इस अनुमान में सन् १६३० के लगभग सिद्ध होता है । इसीलिए हमको भारतेन्दुजी का यह मन कि मीराने स० १६००-३० के बीच शरीर त्याग किया, ठीक जान पड़ता है, जैसा उन्होंने उज्जयपुर स्थान की स्मृति से निर्णय किया था । अनाधनाथ यमु मीरा की स्मृत्यनुक्ति का समय सन् १६०७ के लगभग विस्तृत है । रूपकाजी के पिता तपस्वीगमजी ने उनका मृत्युकारण सन् १६४५ दिया है । पता नहीं, इसका क्या प्रमाण उनके पास था ।

सन् १६३० के आमपाव व्यापक मानने में मीरा की आयु, डायरी सन् के साथ, ७० वर्ष के भीतर ही होगी । इसकी आयु तक जीना असम्भव नहीं जान पड़ता, प्रयुक्त वयोवृद्धि के विचार में तो उनका अधिक अवस्था में ही मृत्यु-वाग शीघ्र जान पड़ता है । अतएव यद्यपि यह ठीक निर्दिष्ट नहीं है कि मीरा ने किस समय में शरीर-त्याग किया, तथापि इसका मान सन् १६०७ या १६०८ के बीच में ही मानना उचित है । हमारी सम्झति में सन् १६३० के लगभग ही वे वरगणना के पास लड़े होंगे ।

* अज्ञानता (१०१६१६)

१०१६१६ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

१०१६१६ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

मीरा केवल भक्त ही न थी, वह कवि भी उच्चकोटि की थी।^{*} कविता का रहस्य है भावुकता, तलीनता एवं स्वाभाविकता। कवि बनते नहीं है, पैदा होते हैं। प्रकृति ने जिसे कविता और भक्ति प्रबल भाव दिये हैं, ओज दिया है, वही कवि है। भावों से, उमंग से, प्रेम से, जब उसका हृदय भर जायगा, तब वह आप से आप कविता कह उठेगा। उपमा, अलङ्कार, पदलालित्य इत्यादि का विचार करने की उसे आवश्यकता नहीं है। इन विचारों से तो कृत्रिमता आ जायगी। जो सच्चा कवि है, उसकी रचना आप से आप इन गुणों से विभूषित होगी। जो कवि नहीं है, उसकी रचना इन गुणों से यत्किञ्चित् विभूषित रहने पर भी कविता न होगी। स्वाभाविक कविता का प्रवाह स्वाभाविक होगा, कृत्रिम न होगा, अतएव सादा होगा—बनावटी छिष्टता से रहित होगा। जब व्याध ने क्रौञ्च पक्षियों को तीर से मारा, तब आदिकवि वाल्मीकि के दयार्द्र चित्त के भाव आप में आप एक सुन्दर सुष्ठु श्लोक के रूप में प्रकट हुए। सच्ची कविता की उत्पत्ति का यह सर्वोत्तम दृष्टान्त है। मीरा ने भी कविता व्यवसाय के लिए नहीं की थी। यह तो उसके हृदय में व्याप्त गिरिधर-प्रेम का स्वाभाविक परिणाम था।

* नोट—कुछ विद्वानों को मीरा को उच्चकोटि का कवि मानने में आपत्ति है। राग गोविन्द तथा 'राग सोरठ को उन्हीं की रचना मानने वाले को कदाचित् यह सन्देह न होगा। एक राजकुमारी का मगीत एवं कविताप्रिय होना स्वाभाविक ही है।

पदों और भजनों के अतिरिक्त, समय समय पर, प्रेम के रचना आवेश की दशा में, जो पन् मीरा के मुख में निकलीं, वे नीचे लिखे प्रन्थों के रूपों में, उन्हीं के रचे कद्वे जाते हैं -

१ नरमी या मायरा - "नरमी को माहेरो संगत गाये मीरा दासी" । काव्य-दोहन में लिखा है कि इमरी पौचरी पंक्ति में यह विदित, होता है कि मीरा ने इसे मिथिला सर्गों आदि भक्त जनों को सुनाया था ।

२ गीत गोविन्द की टीका—सम्भवत यह राजा कुम्भ की बनायी टीका ही होगी और जिस प्रकार भरत में कुम्भ का मन्दिर "मीरासाई या मन्दिर" कहलाते लगा, उर्मा प्रकार उरवी टीका में भी मीरा का नाम जोड़ दिया गया ।

३. राम गोविन्द—इमया उममय प्रायः सभी ज्ञापुनिह मयरी ने किया है । गौरीगुरुओं इमें एक काव्य मन्थ मानते हैं ।

४ राम सोरठ—सिमावन्तु इमे एक दूषक मन्थ मानते हैं । इससे पद 'गदशावणे' से उदात्त किये गये हैं ।

* काव्य-दोहन भाग ३, लिखवन्तु निबन्ध भाग १ पृ० १०३ १४, उममय को इच्छितम (टीका), उर्वरमय का मन्थ मन्थ का उदात्तकर्म (मन्थ) का उदात्तकर्म का उदात्तकर्म ।

३. १३० लिखवन्तु निबन्ध पृ० १०३

५ स्फुट पद—जोधपुर दरवार में इनका एक संग्रह प्रामाणिक माना जाता है ।

यद्यपि मीरासाई के पद हिन्दी व गुजराती की कई पुस्तकों* में संगृहीत पाये जाते हैं । परन्तु उनमें बहुत से मेल के भी हैं, जो सन्तों, गायकों, प्रकाशकों आदि की कृपा के फलस्वरूप हैं । जैसे—

“नागर नन्दा रे, मुकुट पर वारी जाऊँ, नागर नन्दा ।
 वनस्पती में तुलसी बड़ी है नदियन में बड़ी गंगा ।
 सब देवन में शिवजी बड़े हैं, तारन में बड़ा चन्दा ॥
 सब भक्तन में भर्थरी बड़े हैं, शरण राखो गोविन्दा ।
 मीरा के प्रभु गिरिधर नागुन चरण-कमल-चित-फन्दा ॥†

इससे अच्छा प्रमाण मेल का और क्या हो सकता है ? पहली पक्ति में जितनी मधुरता है अन्य पक्तियों में उतनी ही नीरसता है । ये पक्तियाँ ‘हरिगीतिका’ गानेवाला की भी जान पड़ती हैं । मीरा की कविता तथा उनकी प्रेम-भक्ति पर विचार करने के पूर्व इस कठिनाई को पूर्ण रूप में स्मरण रखना चाहिये ।

भाषा एवं प्रतिपादित त्रिपय पर विचार करने से हमारी यह धारणा होती है कि इनके विभिन्न पद भिन्न-भिन्न समय एवं

* काव्य-टोहन, मीरासाई की शब्दावली (बे० प्र०), मीरा-महजो-पदसंग्रह भजन सागर ।

† काव्य टोहन भाग ७

स्थानों पर रचे गये। "माई"वाले पदों में मारवाडी का कविता विभाग ही बाहुल्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि पत्र माता के न रहने पर यह किस्मी को माई कह-
 ।रचनाकार पर पुकारती रही होंगी और "न्हीं"को सम्बो-
 धित कर गन्धाने से पत्र रचे। इन पदों में राणा के लिये गये कथनों के साथ-साथ प्रेम-भक्ति की कलक भी दिखाई पड़ती है। अतएव इनकी रचना उस समय की जान पड़ती है, जब मीरासाई धीमजी के बुगाने पर कुछ दिन के लिए भेदने गई थीं। कारण स्पष्ट है—
 विवाह के पूर्व ये बालिका थीं। दूसरे पद राणा तथा ऊनासाई को सम्बोधित कर लिखे गये हैं। इनमें माधु-भक्ति न छोड़ने पर विषय-प्रयोग आदि का कर्तव्य है। 'ऊनासाई'वाले पद नाना भाषी के वार्तालाप के रूप में हैं, जिनमें मोग की भाषा मारवाडी तथा ऊनासाई की भेराड़ी है। ये पत्र विनीत से रचे गये प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कृष्णजीवागरी पद गृन्हावन में तथा नीति-दीराग्य-सम्बन्धी पद द्वारिका में कहे गए जाय पड़ते हैं। रत्ना प्रेम-भक्ति विषयक पद, माता किस्मी विशेष समय के नहीं बल्कि सबके। और पदों पर सबसे अधिक भी हैं, जो समय-भंग पर दिन के आरेख में मोग व पुत्र से लिखे। कारण यह इनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम-भक्ति और ज्ञान भक्ति है, नीति-दीराग्य, कृष्ण-वार्ता आदि सभी भक्ति में स्वाभाविक कारण है।

राणा के ज्ञान भक्ति तथा नीति-दीराग्य सम्बन्धी पदों में कर्ण

नया सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने बराबर यही चेतावनी दी है कि—

“यो संसार चहर की वाजी, साँझ पड्या उडिजासी।”
संसार नश्वर है। मनुष्य योनि बार-बार नहीं मिलती। इसलिए मनुष्य को सावधान हो कर्मपथ पर अग्रसर होना चाहिये। बाहरी आडम्बर व्यर्थ हैं। उनको छोड़कर अनन्य भाव से भगवद्भक्ति करना ही उचित है, क्योंकि सच्ची भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। केवल वही आवागमन से छुड़ा सकती है।

भक्ति का भाव कोई नया भाव नहीं था। भक्ति की धारा प्राचीन समय से देश में चल रही थी। सामवेद ने भक्ति की महिमा गाई है। भगवद्गीता का उपदेश है—

“ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयिते तेषु चाप्यहम्।”

श्रीमद्भागवत् ने इस प्रकार भक्ति को ज्ञान, कर्म, तप, व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ आदि पर प्रधानता दी है।

“अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मलै

अलं ज्ञान कथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा।”

भक्ति के इसी श्रोत ने माध्यमिक काल में वैष्णव-धर्म का स्वरूप धारण किया। वैष्णव-सम्प्रदाय में विषय-भेद एवं गुणभेद से भक्ति के अनेक प्रकार हो गये। मानवी हृदय की प्रेम-पिपासा ने प्रत्येक निराकारी मत को कुछ साकार रूप दे दिया है। फलतः १५ वीं सदी के निर्गुणी भक्ति-मार्ग १६ वीं सदी में सगुण हो गया।

निराकार परमेश्वर के ध्यान पर साकार परमेश्वर की भक्ति प्रयत्न हुई। यदि ब्रह्म ने राम तथा कृष्ण आदि स्वरूप धारण किये तो भक्ति भी सामान्य साध्य, शम आदि भावों में विभक्त हो गई।

श्रीयुक्त आनन्दशास्त्रर ध्रुव ने लिखा है कि "हम मीरा का चैतन्य सम्प्रदाय के माधुओं के साथ समागम मानते हैं। परन्तु उसी उपाग प्रकट करोगती मुख्य शक्तियों सम्प्रदाय हम जयदेव और रामानन्द को मानते हैं"। मीरा किस सम्प्रदाय की थी यह विद्वान रूप में नहीं कहना चाहते। हों हम इनका एक मानते हैं कि वे परम वैष्णव थीं और श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित निरिच्छोत्त कृष्णभक्ति की थीं।

प्रो० विन्सन् तथा मेरिक्लन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'मीराबाई पन्थ' का अन्वेषण किया है। मीरा ने कोई सम्प्रदाय नहीं बताया। वे अनाथ भक्त थीं। उनको इन मतों में क्या प्रयोजन था ? वास्तव में उनके पद इनके अर्थ और अन्विष्टम पूर्ण हैं कि गुजरात और राजस्थान में माधुसूदन उन्हें बचाने का रास्ता बतलते हैं। इन पदों में कोई तथा विज्ञान नहीं प्रतिपादित किया गया है और न कोई बहाना ही है कि वे पद 'मीराबाई' पन्थ के हैं। कदाचित् इन भाषित का कारण यह है कि दास विद्वानों

जो इन पदों को मीरा की तरह गाती और कृष्ण सेवा करती है वे 'मीरानाई' कहलाती हैं ।

कवीर, सूर, मीरा और तुलसी अपने-अपने ढंग पर उस भक्ति-स्रोत के प्रतिनिधि थे, जो १५ वीं और १६ वीं सदी में तीव्र वेग से देश में बह रहा था । भक्ति का तत्व है परमात्मा में प्रेम, तल्लीनता और आत्म समर्पण ।

भगवान की भक्ति का रूप भक्त की निजी भावना पर निर्भर है । यदि यशोदा को पुत्र के रूप में उनका दर्शन होता है, तो अर्जुन को वे सखा के रूप में दिखाई पड़ते हैं । तुलसी यदि जगदीश्वर भाव से प्रेरित होकर उनकी भक्ति में लीन होते हैं, तो शङ्कर आत्म-भाव से परिप्लावित होकर अपने को भगवान को समर्पित कर देते हैं । अनन्यहृदया मीरा ने गोपियों की तरह कृष्ण की भक्ति पति-भाव में ही की है । परन्तु जहाँ गोपियाँ बराबरी का दावा कर सकती हैं, मीरा केवल दासी बनकर ही आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहती है । मीरा का प्रेम आदर्श हिन्दू पतिप्राणा का प्रेम है, फिर भला वह प्रियतम से कैसे रूठ सकती !—प्राणेश्वर में कैसे दोष लगा सकती !! उसके कारण गोपियों के काले कृष्ण नहीं हैं । उसके उपास्य का रंग तो कुढ़ और ही है । उसे उनके बाहरी रूप से सम्बन्ध नहीं । उसका लक्ष्य आदि से अन्त तक एक है—प्रियतम से मिलन । प्रेम का यह भाव शारीरिक नहीं है, मानसिक भी नहीं है । यह विशुद्ध निरुपाधि प्रेम है । जहाँ मीरा ने 'वर' का प्रयोग

रिया है, वहाँ वह वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ में ही प्रयोग किया गया है।

मीरा के प्रेम का आरम्भ उस गिरिधर की मूर्ति से हुआ प्रेम-भक्ति का था, जो उसने घात-दृष्ट वश अपने गेहन विद्याम के लिए प्राप्त की थी। अतः —

‘ बालपन ते मीरा कीन्हों गिरिधरलाग पिनाई ।

मो ता अथ छुटत पदा हूँ नहि लगन लगी परिचाई ॥ ’

घातक ने वह गिरनीना भी ऐसा ही मुन्दर था कि घातका मार्ग के द्वारा ही प्यारा होगा। एक क्षण भी उससे दृष्ट होना मीरा के लिए कठिन था। वह उससे ईसलें बोलती थीं प्रायः उन शिष्य गेहलते-प्रेरत मो जागी। उस गिरनीन पर अमरा प्रेम लिखा गया और मया था, यह पान माविद्याम के जानागो मय अनुभव पर मको है। जब कुछ पाने हूँ, तो अपने दाग का देगा इंगी मीरा उस वि गेन का पूजा बन्दना भी करती गयी। प्रमरा गिरिधर के वाच्यार्थ अर्थ समाप्त पर वराय उनके मुक्त धरती, दर्शन, अर्थन इत्यादि में मीरा के हृदय में कृष्ण के अर्थ मयी प्रेमभक्ति का अहुर बचपन ही में इट हाते गया। जैसे मया पता था कि अक्षय न यह वि गेन ही उन्हे जीवन का एक मात्र मर्याम होगा।

जब हमें यह ब्याज दुःख का अहम हुआ तो अपने दुःखों इत्ये को भी एक विषय के अर्थ बचपन परमेश्वर का

पन्थ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊची मारग जाय ।

‘मीरा’ के प्रभु कव रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय ॥”

इन पक्तियों में प्रेम की वह झलक है कि उपास्य एक बार अपने उपासक को दर्शन देकर फिर चुपचाप बैठ जाता है और वियोग की कसौटी पर, उपासक की लगन को कसकर, उसकी गहराई तक पहुँचना चाहता है। उपासक की दशा इस समय ठीक वही होती है जो चुम्बक पत्थर दिखाने के बाद सुई की। यदि भक्त का प्रेम वनावटी होता है, तो वह एकदम इस धक्के से चूर-चूर हो जाता है, और यदि सच्चा होता है तो इस आपत्ति को झेलकर, अपने इष्ट तक ले जानेवाले मार्ग पर, और भी अधिक वेग से अग्रसर होजाता है। इस दशा को पहुँचकर वह अपने प्रेमी प्रियतम की खोज में जागो हो उसे वन-वन टूटता फिरता है। जिस तरह हों, जिस भेष में हो, वह उससे साक्षात् करने के लिए लालायित होजाता है—

‘जाइ जाइ भेस सो हरि मिलैं, सोइ सोइ भल कीजे हो ।”

वह उन्मत्त होकर नाचने लगता है। ससार ऐसे मनुष्य को पागल की उपाधि से विभूषित करता है, परन्तु प्रेमी इस विरहाग्नि में तपकर ऐसा कुन्दन हो जाता है कि उसे किसी का ध्यान ही नहीं रहता। उसे केवल यही अनुभव होता है कि—

“औरों के प्रिय परदेस बसत हैं, लिखि-लिखि भेजैं पाती ।

मेरा पिय मेरे रिद बमत है, गूँज करे दिन राती ॥”

प्रेम की इन सीमा पर पहुँचकर प्रेमी अपने उपास्य को सम्बोधित कर कहता है—

“प्रगार चैलन की चिता रचाऊँ अपने हाथ चला जा ।

जलपल भई भम्म वी देगी, अपने अग लगा जा ।

‘मोरा’ कहे प्रभु गिरिधर नागर जात मे जात भिजा जा ॥’

प्रेम का परिणाम भक्ति है, भक्तिका परिणाम आत्म निरोधन और आत्म निवेदन का अन्तिम परिणाम प्रभेद । मोरा का प्रेम भोइसी पोटि का था । इमोतिव बनने कदा है—

“हरी ने तो प्रेम शिवांगी मेरा दस न जान काय ॥ देह ॥

सूती ऊपर मेरा समाग विम विधि मोना होय ॥

गगत मटा है मेरा शिवा का विम विधि भिजा होय ।

पावल की ल पायल जाने, सो गिर नाई हाय ॥

पुन विन तिसी मादना हाये सो गति मेरा होय ॥

कर की मारा धन-का होय वैद भिन्ना गति राय ।

‘मोरा’ की प्रभु का भिन्ना लव वैद संभविदा गति ॥’

प्रेम काई कृपा ही लोच नहीं है । प्रेम काय का लोच कृपा की लोच राशिनी के लोच का लोच कृपा का लोच है । प्रेम की लोच का लोच है । प्रेम का लोच का लोच का लोच है । प्रेम का लोच का लोच का लोच है ।

रग में आपही शराबोर है, जो प्रेम आत्म-समर्पण द्वारा उसी मुक्ति का देनेवाला है, जिसकी महिमा बसवी शताब्दी में महाकवि रवीन्द्र ने इस प्रकार गायी है—

“श्ये दिन आँमार मुक्ती जाये हवे हे चिरवाद्धित ।

तोमार लीलाय मोर लीला ,

जे दिन तामार सगे गीत रगे तले तले मिला ।”

वही वास्तविक प्रेम है । और मीरा इसका ज्वलत उदाहरण है ।

भक्ति-प्रधान होने से इनकी कविता में शान्त रस का ही आधिक्य है । मीरा का हृदय ही भक्ति से परिप्लावित था । निरन्तर

गिरिधर के सम्पर्क में रहने के कारण उनकी

रस वाणी हृदय-बोधक भावों की प्रकाशक होगई

थी । इसके साक्षी उनके पद हैं । उनके

पदों से ईश्वर के प्रति एकान्त प्रेम, तथैव सासारिक व्यापारों के प्रति वैराग्य झलकता है । यथा—

(राग समान्त)

‘मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।

दूसरा न कोई साधो, सकल लोक जोई ॥

भाई छोड़या, बन्धु छोड़या, छोड़या सगा सोई ।

साधु सग बैठ-बैठ, लोक लाज खोई ॥

भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई ।
 असुवन जल सींच सींच प्रेम वेल बोई ॥
 अधिमय घृत काढि लियो, टार दई छोई ।
 राणा विष के प्याला भेज्यो, पीय मगन होई ॥
 अत्र तो घात फैल पडी, जाने मन कोइ ।
 'मीरा' एम लागल लागी, होतो होत्र सो होई ॥”

कृष्ण का उपास्यत्व होता ही मीरा के शृंगार-वर्णन का कारण है । पर शृङ्गार होने पर भी उसमें मन्ती न होकर अपूर्व शान्ति ही प्रकट होती है । उनकी कविता अलौकिक शृङ्गारमूलक है । यह “माधुर्यमयी” है । उनकी परधीयाविहारी की परिकीया नहीं है । उन्हें तो धाम्निविक भक्ति के आदर्श का निरूपण करना है । निम्न प्रकार परिकीया का प्रेम अपने प्रियतम पर होता है, यमों प्रहार मये भक्त का प्रेम अपने उपाम्य पर होता बाहिये । इती का नाम प्रेम-भक्ति है । इती का नाम प्रेम-व्यसंगान्त है । तेजो की सुन्दर का कैसा सुन्दर भिष इति पणियो में गाथा गया है—

‘मी विरहिन पैठी जोगी, जगत मय मोवै ।।रो आगी।।
 विरहिन पैठी रंगमत्त मे, मोदियन को हृदयोवै ।
 इक विरहिन हम एगो दगी, अंसुवन नाम जावै ॥
 नाम गिल गिल वैल विहारी, दुन्दरा मया बच आवै ।
 मीरा के मनु निरिधर भगत पिने के विरुड न उचै ।।।।।।।

दोनों का माध्यम एक है—माना, दोनों का लक्ष्य भी एक ही है—प्रियतम से मिलन। विभिन्नता केवल साधन के रूप में है। सासारिक माया में लिप्त रहनेवालों की दृष्टि केवल बहुमूल्य वस्तुओं पर ही पड सकती है, परन्तु ईश्वर के विरह में पगली हो जानेवाली प्रेमिका का क्षेत्र दूसरा है। प्रियतम बहुमूल्य उपहारों द्वारा प्राप्त नहीं होसकता। राजघरानों के वातावरण में पल हुई विरहिणियाँ प्रकृति की उपासिकाओं में कैसे आगे बढ़ सकती हैं? मोतियों-की माला बनाकर प्रियतम का स्मरण करना एक सासारिक स्वार्थ दिखाई पडता है, परन्तु आँसुओं की माला में आत्म-समर्पण की पूरी-पूरी कनक है। और ऐसा भला क्या न हो? अमूल्य की प्राप्ति अमूल्य ही से हो सकती है। अलौकिकों के लिए ही दुष्कार्य कार्य किया जाता है। साधारण अग्नि में जलने का कोई विशेष महत्व नहीं। प्रचण्ड ज्वालामें तपने पर ही सोना कुदन होता है। फिर यदि अपने हृदय पुष्प की पखडियों में निकल भागनेवाले के लिए मीरा ने उमो से प्रत्युत्पन्न आँसुओं का आश्रय लिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

मानस तथा होली आदि के वर्णन भी इमी अलौकिक भक्ति-भात्र के प्रदर्शक हैं। उनका प्रयोग उम उहीपन विभात्र के लिए नहीं हुआ है, जिसके लिए देव और विहारी की कडी लगी है। यहाँ तो प्रकृति का अपन प्रियतम से मिलन देख जीवात्मा की

परमात्मा से मिलने की उन्मुक्तता का ही केवल चित्रण करना है ।
यथा—

“उमगयो इन्द्र चहुँ दिमि घरमै, दामिन छोड़ी लाज ।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिनन के काज ।
‘मीरा’ के प्रभु गिरिधर नागर, बंग मिलो महाराज ॥”

वास्तव में मीरा की आत्मा का प्रकृति से वही सामञ्जस्य था जो एक मन्त्रे कवि में होना चाहिए । यदि कालिदास ने मेघदूत में यक्ष का संदेशाभिजवाया है, तो मीरा भी उसमें अपने प्रियतम का समाचार पाने को उन्मुक्त है । उसको तो समार की प्रत्येक वस्तु ही प्रियतममय जान पड़ती है । मावन की श्याम घटा देवधर उमे हरि के स्वरूप का स्मरण हो आता है और वह पूजने लगती है—

“मतबारो बादल आये रे, हरि को भेदमो बटु नहि तापो रे ।”

नन्हीं-नन्हीं बूँद पड़ रही हैं । वड़े परिधम के अनन्तर प्रियतम का आगमन हुआ है, परन्तु बहुत ही शीघ्र चला जाया भी आता है । आदरां हिन्दू-प्रेमिका प्रमा में अभिरु नहीं कर सकती । विपरा होकर उगे देवी शक्ति का आभय लेना पड़ता है । धनुष-शङ्ख के समान रामचन्द्र को विगाक उठाने वाले देवधर शरणे मीरा के हृदय में जा भाव उत्पन्न हुआ था, प्रायः वैसा ही भाव यहाँ भी दिखाई पड़ता है । मीरा ने धनुष के भारों हान के कारण प्रार्थना की थी कि वह हल्का हो जाय और यहाँ प्रेमिका पर

प्रार्थना कर रही है कि पानी अधिक वेग से पडने लगे। कैसी स्वाभाविकता है! — मनोविज्ञान के पाठक स्वयं देख सकते हैं। पद यह है—

‘मेहा वरसवो करेरे, आज तो रभियो मेरे घरे रे ।

नान्हीं-नान्हीं धू द मेघ-घन वरसे, सूखे सरवर भरे रे ।

बहुत दिना पै प्रीतम पायो, विछुरन को मोहि डर रे ॥

गीतिकाव्य होने के कारण मीरा की कविता में छन्दो की वह विभिन्नता नहीं हो सकती जो तुलसी, केशव आदि में सम्भव है।

हाँ, राग-रागिनियों के भेद अनेक हैं। मीरा का

छन्द ‘मलार’ राग तो विशेष प्रसिद्ध है ही, ‘कल्याण’ और ‘मारू’ आदि में भी उनके उत्तम भजन हैं।

यथा—

“राखो रे श्याम हरी, लज्जा मोरी राखो श्याम हरी ।”

गाने योग्य छंद पद कहे जाते हैं। मीरा के अधिकांश पद संगीत के सुर-लय से बँधे हुए हैं। कवि के लिए संगीत-शास्त्र की अभिज्ञता परमावश्यक है। वास्तव में यदि कविता शरीर है तो संगीत हृदय और रस आत्मा, और मीरा की कविता में इन तीनों का सामञ्जस्य है।

मीरा के पदों की अन्तिम पंक्ति में विभिन्नता पाई जाती है। गुजराती लेखकों की सम्मति में “मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागुन” ठीक जँचता है, क्योंकि मीरा की भक्ति दासभाव की थी।

वह गिरिधर के गुण गान किया करती थी। गुजराती में तो अर्थ ठीक बैठ जाता है ; परन्तु हिन्दी में 'ना' की जगह 'का' या 'के' करना पड़ेगा। समझ में नहीं आता कि "गिरिधर नागुन" के स्थान पर "गिरिधर नागर" होने में क्या कठिनाई पड़ सकती है ?

मीरासाई अलंकारों की उपासिका नहीं थीं; फिर भी उनकी कविता में अलंकारों का उतना ही स्थान है जितना समाभाषिक कविता में होना चाहिए। थोड़ी सी पंक्तियों में ही उन्होंने नन्दशश की भी शत्रुयोजना किस नूपी माप के द्वारा की है—अनुप्रास का कैसा अच्छा उदाहरण है ! देखिये—

“कुहन की अलक मलय, पपीतन पर धारें ।
मनों मीन सरधर लवि, मरर मितन धारें ॥
कुटिल कुटिलि, तिणष नाग, पिपदन में लेना ।
संजन धरु मनुष मीन, मूँ मृग-धोना ॥”

इसकी प्रशंसा और प्रशंसा को पन मूर के 'कुहन मरर कपोतन के शिग अनु रवि वैचिकिताने' तथा 'मरर मीन मृग मरलारें तदि पटार इरमोन' इत्यादि पदों की धारें लिये देखें। लक्षण, पपिता मररर आदि के भी अर्थों, कदमल इत्यादी कविता में विद्यमान हैं, शिव मरररर अन्वय इस छोटे में लिखने में नहीं किया जा सकता।

मीराबाई की पदावली भाषा-विज्ञान का भी एक बड़ा ही रोचक विषय है। मीरा का सम्बन्ध चार भाषा विभिन्न प्रदेशों में रहा है—मारवाड़, मेवाड़, व्रज तथा गुजरात। यद्यपि इनके पद इन चारों स्थानों की भाषाओं में पाये जाते हैं, परन्तु आधिक्य केवल व्रजभाषा के पदों का है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि व्रजभाषा ही उस समय की कविता की भाषा थी, और इसलिए ये भी कृष्ण की भक्त होती हुई अपने को इस प्रभाव से न वचा सकीं। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद शुद्ध व्रजभाषा के अच्छे उदाहरण हैं।

यथा—

“भूलत राधा सग गिरिधर, भूलत राधामग ।
अवीर गुलाल की धूम मचाई, डारत पिचकारी रग ॥
लाल भयो वृन्दावन जमुना केसर चुअत अनग ।”

परन्तु इनके पदों में अन्य भाषाओं के भी शब्द पाये जाते हैं, जैसे दीदार, नजर, तकसीर, कुदरत के कुरवान, हाजिर, नाजिर अरजी, मरजी इत्यादि फारसी शब्द। पूर्वी में तो इनके कई सुन्दर पद तक मिलते हैं, जिनमें से कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

“जसुमति के दुवरवाँ, ग्वालिन मव जाय ।
वरजहु आपन दुलरुवा, हमसों अरुमाय ॥”

तथा—

“कहँ गइलें बद्धरू, कहँ गइलीं गाय ।
 कहँ गइलें धेनु चरावन राय ॥
 कहँ गइलीं गोपी, कहँ गइलें बाल ।
 कहँ गइने मुरली धजावनहार ॥
 ‘मीरा’ के प्रसु गिरिभरलाल ।
 तुम्हरे दरस बिनु भइन बेहान ॥”

यदि ये पंक्तियाँ मीरा की बनायीं हुई हैं, तो इसका कारण उनका सब जगह के साधुओं से सम्पर्ग ही हो सकता है। इसके अनिश्चित इनकी रचना में प्रचलित मुहाबिरा का भी अन्वय प्रयोग हुआ है। उदा—“धायन की गत धायन जाने”, “गण्डा ऊपर लुग लगायो” इत्यादि। सामान्य में उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि वह जहाँ गईं, वहाँ की भाषा पर तो पूर्ण अधिपत्य कर ही लीं। वहाँ कसौती के रहस्य-ग्रहण का भी अभ्यसन करती गईं। वहाँ-वहाँ की पंक्ति में कितनी सुन्दरता के साथ प्रसन्नता का वारण्ड से अन्वय पर कसौती रखने हुए जाने का चित्र खींचा है। देखिये—

‘भिर पर कसौती, कसौती पर भिर, भिरा पै बैठी भिरा भिरा का रे’

इसके अनिश्चित मीरा ने मुझों पर भी उनसे पर बने हैं। पर इनकी कविता-शक्ति के अन्वय प्रसन्नता है।

यथा—

“कौन गुमान भरी, तू बसी, कौन गुमान भरी ।
अपने तन पर छेद परेचे, बाला तू बिछुरी ॥
जाति-पाँति सब तोरी मैं जानूँ, तू बन की लकरी ।
‘मीरा’ कहे प्रभु गिरिधर नागर, राधा से क्यूँ बिछुरी ॥”

तथा—

“श्री राधारानी, दे डारो जी बशी मोरी ।
हीरे की ना है, रूपे की ना है, हरी बाँस की पोरी ।
काहे ते गाऊँ, करताल बजाऊँ, काह ते लाऊँ गइयाँ धेरी ॥
मुँह ते गाओ, करताल बजाओ, लकुटते लाओ गइयाँ धेरी ।
‘मीरा’ के प्रभु गिरिधर नागर, मैं तो चरन की चेरी ॥”

हिन्दी-साहित्य में मीरा का क्या स्थान है, इसका निर्णय रसिक पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। रहा उनकी कविता का प्रभाव, सो उसके लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण मीरा की कविता हो सकता है कि आज लगभग ४०० वर्षों के की विशेषता और उपरान्त भी बड़े-बड़े प्रासादोंसे लेकर छोटी-मोटी हिन्दी-साहित्य में कुटियों तक में उनके गीत बड़े चाप से गाये उनका स्थान जायें। एक तो उच्च कविता का मुख्य आधार कृष्णप्रेम, फिर मीरा की चमत्कारिक प्रतिभा, उस पर भाषा पर अधिकार और गाने योग्य भजनों की रचनाशैली। अत्र यदि मीरा का काव्य विश्व के श्रेष्ठतम काव्यों में गिना न

जाय तो हो क्या ? हिन्दी के शुद्ध भक्तिमय गीतिकाव्य में तो मीरा का पद कदाचिन् ही सूर से उतरकर हो । सूर तथा मीरा का आधार कमरा श्रीमद्भागवत तथा गीतगोविन्द है; परन्तु मीरा में एक विशेषता है । इन्द्रदेव को अपनी भक्ति-पुष्पाञ्जलि अर्पण करने के लिए सूर ने गोपियों का ध्यात्रय लिया है, परन्तु मीरा को किसी मध्यस्थ को आवश्यकता नहीं । उनका हृदय ही उनकी धीणा है, सुननेवाला कहीं मधुर अथवा झरका का वासी नहीं, यह तो उनके हृदय में ही निगम करता है । इसी से मीरा की कविता में व्यक्तित्व की गहरी छाप टापी हुई है । हृदय के मधे उद्गार होने के कारण उनकी कविता मातृत्वामयी है । इनके पदों की बाणी पनिता-नुन्य ललित, बंमन तथा मधुर स्पर्श है । मीरा की कविता में शमाधिरता, सरलता प्रेमपरता का यथोचित सामञ्जस्य है । अन्य बाण्यथ है रसागरी है, इन्द्रा वगैरे है और भाषा मद्भार । आनन्दविह्वला मीरा की मंत्रों की मद्भार देगिये, जैसे बंमन सुगं में सुताई पदती है ।—

“करो मेरे नीत में नैलान ।

मोहनो मूरति, नाशरि मूरति, नीत बं विमान ।

अभा सुभारम मुरगी रामति इत वैलती मय ॥

पुत्र चटिका चटिका मोमि, सुगुर मय रसाय ।

‘मीरा’ मधु रंजी सुवताई मय रसाय मंसाय ॥’

इस पद के पढ़ने मात्र से हमारी आँखों के सामने कृष्ण की साँवली मूर्ति, गुलाबी होठों पर व शीको तानसुनाते, दिखाई पड़ने लगती है, तो उस समय मीरा के हृदय की क्या दशा होती होगी, जब वह स्वयं हाथों में करताल ले, इस भजन को "देवगाधार" में, प्रातःकाल, अनन्य भाव से, अपने गिरिधर नागर के सम्मुख, गाती होगी। मीरा के हृदय-कुञ्ज में से काव्य के फव्वारों से उत्पन्न होनेवाली प्रेमोर्मियाँ सचमुच अन्तःकरण को अत्यन्त प्रशान्त और सुखमय कर देती हैं।*

* जहाँ तक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों से पता चलता है, वहाँ तक, लेखक के मत से, "मीरा" नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है। पर हिन्दी में "मीरा" लिखने का ही प्रचलन हो गया है। इसीलिए इसमें भी "मीरा" के बजाय "मीरा" रूप ही दिया गया है।—सम्पादक।

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का कहीं तक प्रभाव पड़ , यह जानने के लिए पहले यह देख लेना चाहिए कि संस्कृत साहित्य में कौन-कौन विषय प्रचलन रूप में पाये जाते हैं, कौन कौन किन किन विषयों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कहीं तक पड़ा है। पर इनके उपरान्त हिन्दी साहित्य के इतिहास को, आदि में लेना तक, देना जाता साहित्य और अनुपगत यह निर्णय करना चाहिए कि हिन्दी में कौन कौन से से विषय हैं जो संस्कृत-साहित्य आधार पर गिने हैं कौन कौन से विषय हैं, जो कुछ अन्य से

वेद है। कहा जाता है, स्मृति (स्मरण रखने की वस्तु) श्रुति (सुनी हुई वस्तु) का छाया की भाँति अनुसरण करती हैं। इनकी रचना पहले सूत्रों में हुई और इतने संचित रूप में हुई कि एक-एक सूत्र की व्याख्या में एक-एक छोटी-मोटी पुस्तक बन सकती है। सूत्रकारों ने सक्षेप-क्रिया की कुशलता में हृदय कर दी। इतने सक्षेप की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि एक ब्राह्मण के लिए जितने ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखना अनिवार्य था, उनका आकार दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। उन ब्राह्मणों को भी, जिन्होंने हज़ारों वर्ष तक वेदों की रक्षा स्मृति-पटल में ही की, स्मरण रखने के लिये सक्षेप-करण के उपाय का अवलम्बन करना पड़ा। उन दिनों कागज़ नहीं था। विद्या लाइब्रेरी में नहीं, बल्कि दिमाग में थी। सो ये गृह्यसूत्र, धर्म-सूत्र तथा स्मृतियाँ इतने संचित रूप में बनीं कि इनका प्रभाव किसी भी भाषा-साहित्य पर पड़ना असम्भव हो गया। आजकल हिन्दी में मनु आदि का कोरा अनुवाद-मात्र देखने में आता है।

अब हम संस्कृत-साहित्य की उन शाखाओं की ओर मुड़ते हैं, जिनका प्रभाव विशेष से रूप हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। इसको अंगरेज़ी में Classical Literature कहते हैं। इसको हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) काव्य

(ख) नाटक

(ग) गद्य

(घ) कथा

काव्य

संस्कृत में बड़े बड़े कवियों ने कुछ महाकाव्य लिखे हैं। इनको पद्यमय इतिहास कहना अनुचित न होगा। इनकी मर्ग संख्या १० से २५ तक होती है। और किसी-किसी मर्ग में दस-दस सौ तक श्लोक होने हैं। इनमें चार बहुत प्रसिद्ध हैं। महाकवि कालिदास का रघुवंश, भारवि का किराताकुनीय, माघ का शिशुपाल-वध और भोदर्य का वैशम्पय-चरित। आपुनिष या प्राचीन, किसी भी हिन्दी-कविता में इनके ढंग पर महाकाव्य की रचना में किसी हिन्दी-कवि ने हाथ नहीं डाला।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय-विरचित 'प्रियप्रियाम' का नाम महाकाव्य अक्षरों में रखा गया, पर यह एक विष्णुन स्वतन्त्र काव्य है। केवल नाम ही भर शायद संस्कृत महाकाव्यों की अनुकृति है। यह अक्षरों में है कि एतद् भी दोहा-श्रीवादे आदि न होकर गिरगिरिणी आदि संस्कृत के ही हैं और मरुत-मरुतों में महाकाव्य के 'ग' मरुत में लिखे गये हैं, जो कि कुछ अक्षरों में प्रियप्रियाम में लिखे गये हैं, पर यह सब हाल हुए भी यह नहीं कहा जा सकता। कि प्रियप्रियाम पर संस्कृत महाकाव्यों का प्रभाव पड़ा है। और उन्हें के लिए यदि मान भी दिया जाए कि उमा है, तो भी किसी एक

कवि की कृति पर यह मान बैठना कि हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव पडा है, युक्ति-सगत नहीं प्रतीत होता । किसी भाषा के साहित्य पर किसी अन्य भाषा का प्रभाव पडना उस अवस्था में कहा जा सकता है जब दोनों भाषाओं में किसी एक ढंग के कुछ ग्रन्थ मिलें ।

नाटक

अब संस्कृत नाटको को लीजिये । कालिदास और भवभूति के समय तक संस्कृत नाटककला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी, यहाँ तक कि भरत तथा धनञ्जय आदि आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थ तक लिख डाले थे । इनके कुछ ही दिनों बाद नाटककला का हास होने लगा । संस्कृत नाटककार विषय तथा भावों की मधुरता की ओर कम ध्यान देने लगे, और शब्दों के खेलमें अपना सारा पाणिडित्य खर्च करने लगे । यहाँ तक कि अन्त में शब्द-नैपुण्य और वाक्य-नैपुण्य के सिवा और कुछ रही न गया । ग्यारहवीं शताब्दी तक संस्कृत-नाटक का एक प्रकार से लोप हो चुका था । प्राकृत में भी कर्पूरमञ्जरी आदि कुछ प्रथम श्रेणी के नाटक लिखे गये थे । इसके बाद नाटकों के लिए प्रायः छै सौ वर्षों का अन्धकारमय समय आता है । मुसलिम राजत्व-काल में हमारी ललित-कलाओं के लिए स्थान न था । इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालते ही पहले

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटक सामने आते हैं। इनके शुद्ध नाटक तो अवश्य ही मसृष्ट नाटकों के आधार पर लिखे गये हैं। मसृष्ट नाटकों तथा उनके लक्षणग्रन्थों को बाबू साह्य ने ध्यान से पढ़ा और मुद्राराक्षस, सुपूर-भखरी आदि छ नाटकों का अनुवाद भी कर लाला, तथा उन्हीं के ढंग पर सत्य-हरिश्चन्द्र आदि शुद्ध मौलिक नाटक भी लिखे और भारत-सुदर्शा आदि शुद्ध नाटक ऐसे राजनैतिक तथा स्वदेश-प्रेम के विषयों पर लिखे, जिनका मसृष्ट-साहित्य में कहीं पता नहीं है। इन्होंने धनञ्जय के दशरूपक में आधार पर नाटक के रङ्गों का भी शुद्ध निरूपण किया है।

बाबू हरिश्चन्द्र को छोटकर अन्य नाटककारों को श्रुतियों में मसृष्ट नाटक का प्रभाव नहीं ज्ञात हुआ। बाबू आचार (1871) को अवश्य शुद्ध और भी कवियों ने मसृष्ट नाटकों के आधार पर लिखे हैं, जैसे नान्दी का मङ्गल-भाट और सूर्यार का आकर नहीं या पारिवर्गिक (माधो) से बंधोपकरण में गेने जाने का नाटक के विषय तथा कवि में भोगाओं का परिचित कराना और फिर विर्मा प्रभात पात्र को प्रवेश कराने को जाना आदि, ज्य का रसो, एही के लिखे को शुद्ध नाटकों में देखा जाता है। और शुद्ध नाटकों में लिखे नाटक (1871) का 1871-72) आकाश-भावित्र इत्यादि नाटकों का नाम लेना भी मसृष्ट-नाटक में ही लिखा गया है और मसृष्ट नाटकों

की एक खास बात जो ससार में और कहीं भी नहीं पायी जाती, अर्थात् वियोगान्त नाटको का पूर्णतया अभाव, यह भी हिन्दी-नाटकों के अगले दिनों में ज्यों का त्यों देखने में आया। वियोगान्त Tragedy लिखते हुए हिन्दू नाटककार का जी न जाने क्यों दहलता है। नाटक की रोचकता बढ़ाने के लिए बीच में सब प्रकार के दुख, भगा देंगे। यहां तक कि कहीं कहीं वियोगान्त अवस्था तक पहुँच जाती है, पर अन्त में मिलन अवश्य दिखावेंगे और अन्तिम छन्द में जिसे सस्कृत में भरत-वाक्य कहते हैं, सारे ससार की शुभ कामना की प्रार्थना अवश्य की जाती है, और कोई दिव्य पुरुष 'एवमस्तु' कहता है और तब यवनिका गिरती है। ये बातें सस्कृत नाटक में अनिर्वाच्य हैं, और हिन्दी पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पडा, पर अब आधुनिक नाटककार पाश्चात्य महाकवियों की कृतियों से अधिक सम्बन्ध रखता है। आधुनिक हिन्दी-रङ्गमञ्च पर बङ्गाली, मराठी और अँगरेजी रङ्गमञ्चों की सुगन्ध अधिक आती है। वियोगान्त नाटक हिन्दी में भी लिखे जाने लगे। 'रणधीर प्रेम-मोहिनी' और 'जयन्त' ये दोनों भी वियोगान्त हैं। अब जनता और लेखक दोनों ही की प्रवृत्ति इस भाँति के नाटक देखने और लिखने की हो रही है। उपरिधत-काल में जो नाटक देखने में आ रहे हैं, उनमें से सस्कृत नाटक की सुगन्ध तक लोप हो गई है और प्रायः नाटक-सम्बन्धी सभी बातें पाश्चात्य-रीति के अनुसार होने लगी हैं।

गद्य

मसूत में महाकाव्य और नाटक के हाम के साथ ही साथ मसूत गद्य का उदय होने लगा। उड़ी-उड़ी कथाएँ और आख्यायिकाएँ लिखी जाने लगीं। इनमें बाणभट्ट की काश्मिरी और दण्डों का दशरुमार-चरित समयमें प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा यही ही प्रौढ़, औजस्विनी तथा लम्बे-लम्बे समासों में भरी हुई है। एक एक वाक्य कई पंक्तों तक चले जाते हैं और कभी कभी चार-चार पंक्तों के बाद त्रिया समाप्त होती है। इनमें ही मसूत के कवियों ने नवन करने लायक कोई याग नहीं रचनी, लोहे चुगई के कारण ऐसा हो, या अन्वदाई के कारण। पाश्चात्य समासोंपर ऐसी गठी हुई भाषा केरकर नन्ना उठने हैं और कोई-कोई या यहाँ तक पहुँच सकते हैं कि इनमें शालिक इन्द्रजान (Verbal juggler) को सोझपर और बुद्ध है हा नहीं। पर वाक्य में बात ऐसी नहीं है। इन कथाओं को एक प्रकार का मसूत कहना चाहिए, जिसमें बहुत ही अल्प वाक्यों के साथ ही साथ अमोघ रोजों को भी कमी नहीं है। भाषा को सोझ, इनके और लक्षण सब साथ मदाकार्य ही ही भोजि होने हैं।

अब हमें भाषा के गद्य-साहित्य को समझनी और में देख लाना चाहिए और यदि समझें हैं, तो यह जानने की चेष्टा करना चाहिए

कि इसमें कहीं मस्कृत-गद्य की भी छाया है या नहीं। हिन्दी गद्य-साहित्य के सबसे पुराने नमूने राजाओं के परवाने और पट्टे आदि में मिलते हैं। इसके बाद हिन्दी-गद्य के सबसे प्रथम लेखक गुरु-गोरखनाथजी आते हैं। इन्होंने कुछ छोटे टुकड़े कहे हैं, जिनमें एक विचित्र भाँति के धार्मिक अथवा दार्शनिक उपदेश मिलते हैं। इसके बाद गोकुलनाथजी की चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता और २५२ वैष्णवों की वार्त्ता आती हैं। ये वार्त्तयें ठेठ ब्रजभाषा में हैं और महाप्रभु बल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्गीय उपदेशों का निरूपण करती हैं। यह विषय मस्कृत-साहित्य से एकदम निराला है।

तदनन्तर केशवदास का शृंगार-शतक आता है। इस विषय के लिए मसाला मस्कृत-साहित्य से अवश्य लिया गया होगा। चट्टौसी के नाथूराम की भागवत के दशम अध्याय की कथा भी ध्यान देने योग्य है। इसकी कथा तक भागवत से ली गयी है, जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट हो रहा है।

अब इसके अनन्तर हम आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं के सम्मुख आते हैं। ये हैं सैयद इन्शाअल्लाखा, लल्लूजीलाल और प० सदल मिश्र। खॉ साहब की 'रानी केतकी' की कहानी मस्कृत साहित्य से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती, पर लल्लूजीलाल और सदल मिश्र अवश्य, कम से कम कथा भाग के लिए, मस्कृत साहित्य के ऋणी हैं। 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' दोनों का

कथा-भाग मस्कृत से लिया गया है। किन्तु भाषा, शैली और विचार सब इनके अपने हैं। इनके बाद शिवप्रसाद मिश्रा-दिन्द्र और राजा लक्ष्मणमिह्र आते हैं। इनकी रचनाओं के प्रिय में कुछ कहने के पहले, हम बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि यह समय प्राय १८५० ईसवी का है। इस समय भारत में अंग्रेजी वातावरण अपना प्रभाव बिगा रहा था। पब्लिक स्कूल खोले जा रहे थे, भारत की पुरानी सभ्यता के स्थान पर पाश्चात्य सभ्यता अपना अधिपत्य जमाते लगी थी। उर्दू परामाना पहले पहल चलाई गयी। इसी का फल पुराने के लिए शिवप्रसादों ने देवनागरी पत्रों में पर समाचार-पत्र निकालना आरम्भ किया और उनमें उर्दू शब्दों का शुद्ध हिन्दी के साथ-साथ रखने का दुग्माहम किया। ये हिन्दी और उर्दू के दो पृथक् भाषा मानने का हीकार नहीं थे, पर राजा लक्ष्मणमिह्रों काफला इस विचार में विरोध करने थे। ये उर्दू का दूसरी भाषा समझते थे। उसका अभिप्राय जाहङ्गाह का हिन्दी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसके सिवाय मस्कृत-साहित्य से इन लोगों की कृपिया का कुछ सम्बन्ध नहीं है।

अब इधर सन ७३ के पहले के बाद, राजा जगदीश से परा स्थान आगान्दुली का है। इनकी कृपियों पर गौरव साहित्य का जो कुछ प्रभाव पड़ा, पर भारत के सम्बन्ध में है, जो करर कहा जा सक्ता है।

कथा

इसके बाद उपन्यासों का समय आया। सस्कृत में पञ्च-तन्त्र और हितोपदेशादिक जो गल्पमालायें मिलती हैं, उनका प्रभाव हिन्दी की कहानियों पर शायद ही पडा हो। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने जो ऐयारी और तिलस्मी ढंग के उपन्यासों का लिखना आरम्भ किया, उनका सकेत भी सस्कृत-गद्य में कहीं भी नहीं देखा पडता। इनके उपरान्त प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी ऐसे बड़े-बड़े भाषा के आचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनकी भाषा को परिमार्जित हिन्दी कहना चाहिए। भाषा प्रायः सस्कृतप्राय हो गई। भाषा को साहित्यिक बनाना इन्होंने इसीमें समझा कि वहाँ भी सस्कृत के तत्सम शब्द भर दिये जायें, जहाँ मामूली बोल-चाल के शब्द मिलते हैं। द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तकों के लिए मसाला महाभारत तथा रामायण से बहुत कुछ लिया है। अब इस समय जो वर्तमान हिन्दी-गद्य तथा उपन्यास की अवस्था है, उसमें बँगला और अंग्रेजी का प्रभाव बहुत अधिक है। साहित्य-क्षेत्र में धीरे-धीरे, परन्तु दृढता के साथ, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्न घर बनाते जा रहे हैं। विगत असहयोग आन्दोलन तथा ऐसे ही बहुत से अनेक आन्दोलनों की प्रतिध्वनि साहित्य क्षेत्र को चारों ओर से व्याप्त कर रही है। अब कोई भी नया हिन्दी लेखक सस्कृत-साहित्य से नहीं, बल्कि पाश्चात्य

साहित्य की ओर आवश्यक उत्साह (Inspiration) के लिए मुझता है।

संस्कृत-साहित्य में दो विषय ऐसे हैं जिनका प्रभाव हिन्दी पर बहुत अधिक पड़ा है। एक पुराण, दूसरे अलङ्कारशास्त्र। पौराणिक कथाओं के बारे में ऊपर जहाँ-तहाँ हम प्रकाश डालने आये हैं। उनके विषय में एक बात का स्मरण करना बहुत आवश्यक है। यह यह कि पुराणों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर ऐसा उनके वाच्य (Form) का पड़ा है, न कि उनके विषय (Spirit) का। हाँ, अलङ्कारशास्त्रों और रसग्रन्थों के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य में अज्ञान कहने का मुझ भी नहीं है। देव और देवतादि आचार्यों ने इस विषय पर जो कुछ लिखा, यह नगद और विशुद्ध आदि संस्कृत आचार्यों के ही आधार पर रस, अलङ्कार, भाव, विभाव, अनुभाव तथा रसों के स्थायी भाव, सञ्चारी भाव, अनुभाव तथा स्थायी भाव, इन रसों की परिभाषाएँ संस्कृत में ही ली गई हैं। और दूसरे ली ही वहाँ से जा ली हैं ? रस तथा रस-सम्बन्धी भावदिक रसों विषयों का ऐसा व्यापक विभाग संस्कृत के आचार्यों ने विभाजित किया है कि दुर्लभ शक्ति होती है। कोई भी बात नहीं लिखाने को यह ही नहीं गत है। दूसरे और उल्लेख एक तो टीका है कि जंगलों में रहने वाले लक्ष्मी अरि मोक्ष वरुण विष्णुओं को और और विष्णु। पर वायु-भोजनकर गत वरुणों, वही अरि दुर्लभ, इतने साधक और

मानव जीवन के मनोभावों के ज्ञाता भी हो सकते हैं, यह इन्हीं लक्षण-ग्रन्थों तथा उनके दिये हुए उदाहरणों से ही विदित होता है। हिन्दी के आचार्यों ने उदाहरण अवश्य अपने निज के दिये हैं। देवजी ने एकाध सञ्चारीभाव तथा एकाध नया अलङ्कार भी निकाला है, परन्तु विचार से देखने पर वे सब उन्हीं के अन्तर्गत मालूम होते हैं।

कोई-कोई हिन्दी कवियों के नायक-नायिका-भेद को मौलिक मानते हैं। पर इसमें बड़ा मतभेद है। दशरूपक तथा भारतीय नाट्यशास्त्र में दिये हुए नायिका-भेद से ही हिन्दीवालों ने नायिका-भेद विस्तार-पूर्वक बनाया है। हिन्दी-कवियों में जो नखसिख वर्णन का इतना बड़ा प्रपञ्च पाया जाता है, वह भी मौलिक नहीं है। महाकवि कालिदासादिक नखसिख-वर्णन पहले कर चुके हैं। हाँ, देवजी का 'अष्टयाम' जिसे प्रेमी और प्रेमिका का चारहो घटे का कार्य विवरण (Love programme) कहना चाहिये, उनसे भी एक दर्जा आगे बढ़ गया है। इस प्रकार हिन्दी की शृंगाररस अथवा प्रेम रस की जितनी कविता है, सब पर सस्कृत का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा हुआ मालूम होता है।

हिन्दी के छन्दों पर भी सस्कृत का काफी प्रभाव पड़ा है। विशेषतः आधुनिक हिन्दी-कविता पर। -मध्यकाल के प्रधान छन्द दोहा, कविता, सवैया, -सोरठा तथा चौपाई हैं। ये छन्द सस्कृत

छन्दों में भिन्न हैं। हिन्दी के छन्द मारिक होते हैं और संस्कृत के धार्मिक। आजकल के गानू मैथिलीशरण गुप्त, ठा० गोपालशरणसिंहजी आदि सड़ी बोंगी के कवि, शास्त्री विष्णुधर शिखरिणी इत्यादिक छन्दों को पचास पसन्द करते हैं।

अब हम बहुत ही मक्षिप्त रूप में हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रधान प्रधान विभागों पर एक दृष्टि डालेंगे और यह निश्चय करने का चेष्टा करेंगे कि किम विभाग में संस्कृत का प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास को हम तीन प्रधान भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला १०००—१४०० ई० तक (Bardic Period), दूसरा १४००—१६०० ई० तक धार्मिककाल (Religious Period), तीसरा १६००—१८०० ई० तक शृंगार (L. to IL Period)। इस १००० ई० से लेकर १८०० ई० तक हिन्दी-साहित्य में विषय धारा बरा थी, जसको विषय प्रसार या वाद्य रूप दिया गया था और इस कार्य में संस्कृत-साहित्य को वहाँ तक धारा पड़ा है, यहाँ अब निश्चय करना है।

हिन्दी-साहित्य का मय में पुनः उगम शब्द का दृष्टांतक समझा जाता है। इसको कुछ लोग हिन्दी का साहित्य कहते हैं। इसमें अमलक लक्ष्मणों का वर्णन है। यह भी हम का अनुभव है और हम भी इसमें इसी का अनुभव ही कर रहे हैं। जैसे मुक्तिप्रसाद, लालच, लोटक, मोग,

इत्यादि। कहीं-कहीं शृंगार का भी वर्णन है, पर बहुत कम। जो कुछ है, पृथ्वीराज के वीरों विवाहों के सम्बन्ध में। इसके बाहरूप को देखते हुए यह मानना पडेगा कि महाभारत की छाया इस पर पडी है, पर विषय तथा विचारधारा, दोनों, पूर्णतया मौलिक प्रतीत होते हैं। इस काल के जितने स्यातनामा कवियों को हम जानते हैं वे प्रायः सब किसी न किसी राजा के आश्रय में रहते थे और उनकी वशावली तथा उनके पराक्रम के ऊपर सहस्रों पद बना डालते थे। इसमें हमको बहुत सी ऐतिहासिक बातों का पता चलता है, पर विषयों की सच्चाई के हिसाब से उनका मूल्य अधिक न लगाना चाहिए। ये कवि विशेषतः भाट-वश के होते थे और लडाइयों में स्वयं भी जाते थे तथा वीर रस के उद्रेक करनेवाले कडरे सुना-सुनाकर सैनिकों को प्रोत्साहन देते हुए चलते थे। युद्ध-विद्या में भी ये बहुधा निपुण हुआ करते थे। महाकवि चन्द ने अन्त तक अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज का साथ दिया और लडाइयों में बराबर उनके साथ साथ रहे। इनकी कविता सब एक ही बार में नहीं लिखी गई। इनको हिन्दी का आदि कवि कहना चाहिए। जैसे वाल्मीकि ने रामायण लिखकर संस्कृत कविता की नींव डाली, उसी प्रकार चन्द ने हिन्दी कविता की।

इस समय के और प्रसिद्ध कवि जगनायक, जल्हण और उनके पुत्र शरभधर हैं। जगनायक या जगनिक का आल्हखण्ड

अपठित तथा अल्पपठित लोगों में बड़ा लोकप्रिय हो गया है। इसमें आल्हा-ऊल की महोत्सवा आदि की लड़ाइयों का ऐसा मजा तथा उत्साह में रोंगटे खड़े कर देनेवाला वर्णन है कि पुरा-कान की लड़ाई के एक-एक दृश्य आर्यों के सामने खिगाई पढ़ने लगते हैं। परन्तु भाषा इसकी कुछ प्रामाण्य-भंग है, इसी में देशात के लोगों में इसका बड़ा आदर है। इन लोगों में एक किम्वदन्ती अभी तक चली आती है कि मजान गया, कि १५ दिन आन्टा हो, और ताड़ी न चले। और मन्मुख जब डोल लपर एक स्वर में आन्डा गाने बैठते हैं, तो एक प्रकार की घोररस की धारा-यां फूट निकलती है। दस इसका भी महाभाग में बहुत अंगों में मिलता है, पर विचार नहीं। महाभाग केवल लड़ाइयों का ही खजाना नहीं है यह तो सब प्रकार के धार्मिक, मानसिक, नैतिक तथा लौकिक विचारों का उत्तम भण्डार है। यह यह समुद्र है कि जिस विषय की आवश्यकता अनुप्य हो हो सकती है यहाँ इसमें मिल सकगा है। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म भाषा विनयेतान महत्वयि कुछ अक्षर तक अथवा महाभाग के अनुगृहीत हैं और बहुत अंगों में महाभागों के।

इस बात में ही एक सुमन्ता वरिषों ने लिखी में कुछ श्लोक-रस की बरिषा की है। इनमें सुमन्ता-नाउद की गुरुक और अक्षर की बरिषां बहुत प्रसिद्ध है। अन्त में सुमन्तों भी इसी समय के हैं। पर इन लोगों की बरिषा में संस्कृत-साहित्य

की कुछ भी झलक नहीं है। जब ये विचारे संस्कृत जानते ही न थे, तब उसका प्रभाव उन पर क्या पडता। इन लोगों तथा भट्ट-कवियों का भाषा और साहित्य, दोनों, पर प्राकृत तथा अपभ्रंश-विशेष डिङ्गल का प्रभाव अधिक जान पडता है। गुरु गोरख-नाथजी, जो हिन्दी गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं, इसी काल में उत्पन्न हुए थे।

अब इसके बाद सन १४०० से १६०० ई० तक धार्मिक-काल (Religious Period) माना जाता है। इस समय के धार्मिक केन्द्र ब्रज और अवध हैं। ब्रज का साहित्य ब्रज-भाषा में है और अवध का अवधी बोली में। ब्रजभाषा के दो मुख्य स्कूल माने गये हैं। एक के जन्मदाता निम्बार्क हैं, जिन्होंने गोपीकृष्ण की उपासना का उपदेश दिया और उनके प्रधान अनुगामी, कविवर नन्ददासजी, हितहरिवंश और बाबा हरीदासजी हुए, दूसरे की नींव महाप्रभु वल्लभाचार्य ने डाली। इन्होंने बालकृष्ण की अर्थात् श्रीकृष्ण के बालरूप की महिमा गायी। इनके प्रधान अनुगामी कवि-श्रेष्ठ महात्मा सूरदासजी हुए यद्यपि इन पर भक्तशिरोमणि निम्बार्क की प्रचारित गोपीकृष्ण उपासना का प्रभाव अधिक पडता था। ब्रजभाषा के अष्ट-छाप के आठों कवियों में नन्ददास और सूरदासजी की ही कृतियाँ अधिक ध्यान देने योग्य हैं। नन्ददास-रचित भ्रमरगीत और रासपञ्चाध्यायी में पहले गोपियों का विरह है; जब

कृष्ण गोकुल छोड़ मथुरा में रहने लगे थे और गोपियों को योग सिखताने के लिए उद्धर भेजे गये थे; और फिर श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ राम-लीला वर्णित है। इन दोनों में मसूत का कहीं भी समर्पण नहीं प्रतीत होता। यदि कहीं किसी प्रकार का सम्बन्ध खोज-तानकर निकाला जा सकता है, तो यह भागवत पुराण का। हो सकता है, नन्ददासजी ने इसमें से कथा के लिए कुछ मसूत लिया हो।

अब मूरनामकी के लीजिए, इनको हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ परि कृत समझते हैं। इनका प्रधान ग्रन्थ मूरनाम है। मूरनाम को पोट-पोट अज्ञानता भागवत का अनुपात कह सकते हैं। यह उनका कहीं भारी भूत है। मूरनाम का विषय अथर्व भागवत से लिया गया है, पर उद्देश्य, विचार और शैली में यह वि- भिन्न ग्रन्थ है। भागवत की दसों अवतारों की मूर्तों मूरनाम में भी मिलती है, पर मूरनाम के दशम स्कन्ध में मूरनामकी की कथा इसी विचार से कही गई है और शेष अवतारों को इसी रूप में निरुद्ध किया है कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो मूरनाम का जो कुछ है, वह दशम स्कन्ध में ही है। इसके बाद नवमस्कन्ध में रामनामकी की कथा भी कुछ विस्तार में है। शंका का विचार आदि नहीं, जो मूरनामकी के विषय के पर्यटकों हैं। इनको खोज-तान करके जो कुछ इतिहास पता है, सो जानें भी मूरनामकी की इस प्रतिभा का कुछ भी अज्ञान नहीं पाया जा-

जो दशमस्कन्ध में पाया जाता है। भागवत में दानवों के वध की भरमार है, पर सूरदासजी ने भयानक रसों से यथाशक्ति दूर ही रहना पसन्द किया है। सूरसागर में तीन बातें मुख्य हैं—श्रीकृष्ण का बालरूप, गोपियों का कृष्ण प्रेम और उनकी अनुपस्थिति में उनका दुःख। यही तीन बातें जो सूरसागर में सब कुछ हैं, भागवत में नहीं के बराबर हैं। फिर भागवत एक धर्म-कथा या पुराण है और सूरसागर एक गीति-काव्य। बाह्यरूप और शैली में दोनों एक दूसरे से विलकुल भिन्न हैं।

अब हम धार्मिक काल के अवधी साहित्य की ओर मुड़ते हैं। इसकी जड़ जमानेवाले स्वामी रामानन्द हुए हैं। इनके प्रधान अनुगामी महात्मा कवीर और तुलसी हैं। स्वामी रामानन्दजी सस्कृत के विद्वान थे और गुसाईं तुलसीदास भी सस्कृत के पूरे परिणत थे। इन्होंने सस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। यही कारण है कि तुलसी के ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ सस्कृत की छटा दिखाई देती है, एसाकर जहाँ कहीं गुसाईंजी अपने धार्मिक और दार्शनिक विचार प्रकट करते हैं। कहीं शंकराचार्य की अद्वैतवाद की छटा दिखाई देती है तो कहीं विशिष्टाद्वैत की। इनके रामायण को कोई-कोई वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद कहते हैं, जो विलकुल असंगत है। इसकी कथा अवश्य वहाँ से ली गई है, पर केवल वहाँ से नहीं, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक आदि और भी कई ग्रन्थों से। रामायण का कुछ

भाग कहीं-कहीं भाग्यत से भी मिलता-जुलता है, जैसे किष्किन्धा-
 पाण्ड का वर्षाशुतु वर्णन । रामचरितमानस भी यान्नीकीय रामा-
 यण की भाँति एक प्रबन्ध-काव्य है, पर उसमें भक्ति प्रधान है और
 शान्त रस की विशेषता पायी जाती है । कथाओं को ध्यान देने से
 शान होता है कि मानस अध्यात्म-रामायण का अधिक अनुगामी
 है और यान्नीकीय का कम । यान्नीकीय में राम को अवतार मान-
 कर कहीं भक्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जो मानस का सर्वस्व है
 और जिसका बीज तुलसी ने अध्यात्म में बिगा है । या तो गद्य
 विषय के बारे में । यान्नीक्य मानस का निराका है । या
 मोक्ष-साधन में परिणत है । अलङ्कार तुलसी के अपने हैं ।
 अनेक स्थानों पर उन्होंने दृश्यकाव्य की भी मूर्तियाँ
 उपस्थित कर दी हैं, जो मरुत प्रयोगों में नहीं हैं । मानस के
 परमन्त तुलसी के और भी कई प्रयोग मिलते हैं । उनमें गौतमजी
 और परिभाषा भी मुख्य हैं । इनके मरुत के प्रभाव का पूरा
 अभाव है ।

जब कहीं-कहीं लीजिए । इनका स्थान हिन्दी-साहित्य में एक
 रस निराका है । इनके दार्शनिक विचार तो मरुत के चरित्र
 कादियों में बहुत कुछ मिलते हैं, पर वे मरुत मरुत नहीं लगते हैं ।
 इनके चरित्र में जो कुछ भी मरुत की भाँति लगता है वह इनके
 गुरु यान्नीक्य का प्रभाव से होकर आया है । कहीं-कहीं उनके
 अनुगामी भाव होने काका भावों की शक्ति चरित्र में मरुत

एकदम नहीं है, यह कहना भी अनुचित न होगा। इनमें से बहुत से निरक्षर (Illiterate) थे। कवीर स्वयं ऐसे थे। इन लोगों ने एक स्तर से वेद-पुराण आदि तथा सगुण उपासना की निन्दा कर डाली है।

इसी काल में प्रेम की धारा वहानेवाले कुछ रसीलें मुसलमान कवियों ने शृंगाररस की उत्तम पुस्तकें लिखी हैं, जैसे जायसी का पद्मावत और अररावट। कुतबन मियाँ की मधुमालती, मुग्धावती और प्रेमावती, उसमान की चित्रावली और नूरमहम्मद की इन्द्रावती। ये सब अवधी भाषा में दोहा और चौपाइयो में लिखी गई हैं।

इन सबों में प्रेमरस को छोड़कर कुछ है ही नहीं। और सब बातें तो इनकी सस्कृत-साहित्य से दूर हैं ही, प्रेम का विषय जो इन पुस्तकों में दृष्टिगोचर होता है, वह भी बिलकुल निराला है—रासकर विप्रलम्भ शृंगार-वर्णन में तो ये लोग कभी-कभी ऐसी उडान भरते हैं कि हँसी रोकना मुश्किल हो जाता है। इनकी नायिकाएँ जब विराहानल का दीर्घ निश्वाम छोड़ती हैं तो जगलो में आग लग जाती है और उसके धुँ से आसमान काला दिखाई देता है। ये लोग सस्कृत नहीं जानते थे। इनके ग्रन्थों में सूफीमत के सिद्धान्त प्रायः दिखाई पड़ते हैं और ममनवी विचारों की भी कमी नहीं है। इन सब बातों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सस्कृत के महाकाव्यों की गम्भीरता

का आभाम हिन्दी कविता में चटि कहीं मिलता है तो इन्हीं पद्मावत आदि ग्रन्थों में, यद्यपि इनके लेखकों को इस धान का पता न होगा। रामचरितमानस को कोई-कोई महाकाव्य मानते हैं पर यथार्थ में मानस का दृग मछानान्यों का सा नहीं है।

अब फेरल शृंगार-काल (Lotic Period) देखने को रह गया है। इसका समय सन १६००—१८०० ई० तक माना जाता है। यह वह समय है, जब हिन्दी कविता न्यतम शिखर पर पहुँच गई थी और जिसके बाद उसका अध पतन आरम्भ होगया। फेरल, ऐव तथा मतिगन ऐसे बड़े-बड़े साहित्याचार्य इसी समय के हैं। विनामपूर्ण मुगल सत्कारों में इन कवियों का अधिकाधिक स्वर्ग होने के कारण इनकी कविता में शृंगार और शृंगार में भी नायिका वर्णन का साम्राज्य पाया जाता है। साथ ही इनके का समय भी यही था, जब संस्कृत-साहित्य का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पडा हुआ दिखाने देता है। हिन्दी के प्रथम आचार्य केदार ने अपनी विद्या में जिन सभ्यता का निरूपण किया है, वे संस्कृत में विनिर नहीं हैं। अगु इन विद्या पर इन पत्रों कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अगु उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन्होंने शृंगार कवियों के बीच में, सायना-सुन्दर में मुताव के बर्ताने कुछ का मद्र भूय का गौड रस की भीतन कविता भी लिखते पर नहीं है। इन्हीं कविता पर संर-नायिकाओं के भाव कवियों का—(कविता

चद का—प्रभाव पडा हुआ मालूम होता है। इमी ढग के कुछ कवि और भी इस काल मे हुए हैं। जैसे—

गोरेलाल	छत्रप्रकाश के रचयिता
मूदन	सुजान-चरित ”
पद्माकर	हिम्मतवहादुर ”
और मुरलीधर आदि ।	

शृगारी कवियों मे मुख्य देव, केशव, विहारी तथा मतिराम हैं। विहारी की सतसई भी सस्कृत के प्रभाव से मुक्त नहीं है। सस्कृत कवि इस प्रकार की सप्तशतिकाएँ और शतक बहुत मे लिख चुके हैं।

इस काल के बाद आधुनिक काल का समय आता है। इसे १८००ई० से लेकर आजतक समझना चाहिए। यह गद्य-काव्य तथा जातक का युग है। इस युग के शुरू मे शृङ्गार की प्रधानता चली आई है, पर इधर कुछ दिनों से साहित्यिक वातावरण मिलकुल बदल गया है। अब नये-नये विषय, जिनकी कल्पना भी पहले के साहित्य मे न थी, अब के साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण कर रहे हैं, जैसे राजनीति, राजनीतिक क्रान्तिकारी विचार, सामाजिक क्रान्तिकारी विचार तथा छायावादी कवियों के विचार इत्यादि। कविता अब विशेषत खडीपोली मे होती है। ऐसी अवस्था मे यहाँ सस्कृत-साहित्य का प्रभाव ढूँढना मन्त्र मारना है।

इस लेख, को समाप्त करने के पहले छायावादी कवियों

की कविता के विषय में एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। इस मूला के जन्मदाता Mystic गिरामणि (रहस्यवादी) कबीर नामक होते हैं। उन्हीं के आधार पर यद्वात के छायावादी कवियों की एक गोष्ठी घनी, जिसमें प्रमुख कवि-सम्राट् श्रीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। इनको गूढानि-गूढ शरीरिक विचारों से भरे हुए कबीर के पद जायद रहत रचते हैं। इसीसे शायद कबीर के मंत्रों को इनोंने अतुल्य भी धरना में पर टाला है, और उनी प्रकार कुछ भाषों में पूर्ण रहत में पद कवि-सम्राट् ने स्वान्तर् भी बनाये हैं। उनकी देखा-देखी कुछ और कबीरिय कवियों ने इस प्रकार की कविता में हाथ डाला और धीरे धीरे यह नशा लय घटाने टिन्नी के नरपुत्रक कवियों के मित्र पर गवार हो गया है। यहाँ पर हम पता यह कह लेना उचित समझते हैं कि छायावाद की कविता को लेय गिद्ध करने की आकाशा में हम यह नहीं कह रहे हैं। हम भी यद्वात की भाँति कबीर की छायावादी कविता पर नुम्र हो रहे हैं, पर इतिहास कि हमसे इतर म एक शरीरिक आत्म का सम्बन्ध होता है। परन्तु इनका अनुसन्धान करनेवाले गिरामणि कबीर कविता के साथ हम पर जाते हैं और विश्वास-सम्बन्ध को छोड़ नहीं देते। यह यह होता है कि हमारे लिये अस्मिता दर्शक। मुक्ति करनेवाले लय कोशित करने पर भी वेदों मल्लय ली विचार का। कविता मात्र अर्थात्-कविता "वेद" ली है। इत्यादि।

यदि ध्वनि-काव्य या व्यङ्ग्य-काव्य भी मान लें, तो भी कुछ व्यङ्ग्यार्थ तो निकलना चाहिये ही। पर यहाँ घटो सिर मारें, तो भी कोई मानी नहीं निकलता। कविता का महत्व इसी में नहीं है कि कोई उसे समझ ही न पाये।

आजकल की कविता में दो बातें सस्कृत की अवश्य हैं। वह है सस्कृत के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग और सस्कृत के अच्छे-अच्छे वृत्तों का सहारा लेना। आधुनिक खड़ी बोली के कवियों को सस्कृत के छन्द और तत्सम शब्द बड़े उपयोगी जँचने लगे हैं। यह बात यहाँ तक बढ़ गई है कि यदि क्रिया या कारक के चिन्ह हटा लिये जाय तो बिलकुल सस्कृत की ही कविता मालूम हो। इससे यदि कोई बात प्रकट होती है तो वह भाषा की दुर्बलता है। स्मरण रहे कि सस्कृत और हिन्दी दो विभिन्न भाषाएँ हैं। दोनों के विषय एक हो तब तक कुछ हर्ज नहीं, पर भाषा एक न हो जानी चाहिए।

—गणेशप्रसाद द्विवेदी

भारत में समाचार-पत्रों का विकास और हिन्दी-सम्बन्धित-पत्रों पर एक दृष्टि

भारत में समाचार-पत्रों के सम्बन्धित या सम्बन्धित इतिहास के समाचार-पत्रों के उद्भव पर दृष्टि है। दोनों देशों के समाचार-पत्रों में विशेष समाचार भी है। जिस प्रकार इतिहास के समाचार-पत्रों द्वारा सामाजिक लोकमत में विशिष्ट शिक्षा प्रदान है, वही प्रकार भारत में भी समाचार-पत्रों द्वारा लोकमत में शिक्षा प्रदान है। लोक ही देश के पत्रों के सम्बन्धित-पत्रों के विकास पर हमें एक नजर डालनी है।

अपने कर्तव्य का पालन करने की तरफ अधिक सचेष्ट रहते हैं। यद्यपि यह सच है कि भारत में एक भी ऐसा दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक-पत्र नहीं है, जिसकी ग्राहक-संख्या लण्डन के बड़े अथवा प्रान्तीय समाचार-पत्रों में अधिक हो, तथापि वर्तमान शासन के वातावरण में भी भारतीय समाचार-पत्र जनता पर बेहद प्रभाव डालते हैं।

भारत में समाचार-पत्रों का उद्भव, उनका विकास और सम्पादनकला की वृद्धि एवं व्यवसाय की उन्नति का वास्तविक आरम्भ सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जन्म से होता है। यद्यपि भारत में युगान्तर करनेवाली उस घटना से पहले भी भारत में समाचारपत्र थे, किन्तु समाचार-पत्रों द्वारा राजनीतिक शिक्षा तथा प्रचार-कार्य का आरम्भ सन् १८८५ से ही होता है। इस समय से पहले भारत में उन्हीं समाचार-पत्रों का विशेष आदर था, जो अंग्रेजों की सम्पत्ति थे और जिनका सम्पादन भी अंग्रेजों ही के द्वारा होता था। ये समाचार-पत्र ब्रिटिशराज का गुणानुवाद गाते थे और गवर्नमेंट के विचारों का सदा समर्थन करते थे। दो-एक जो देशी समाचार-पत्र थे, वे भी इन्हीं अंग्रेजी समाचार-पत्रों का अनुकरण करते थे। किन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय समाचार-पत्रों को एक अकृत्रिम महत्व मिला। उनके रूप में जो परिवर्तन हुआ, उससे

भारत में समाचार-पत्रों का विकास]

८५

सरकार के समर्थक अंग्रेजी समाचार-पत्रों को भी अपना रुख बदलने के लिए लाचार होना पड़ा।

सन् १८८५ के पहले भारत के अधिकांश समाचार-पत्रों में इंग्लैंड की राजनीति, आयरलैंड की समस्या और उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर रूसी हमलों के खतरे पर ही विचार किया जाता था। भारतीय प्रश्नों और देश की अवस्थाओं का उनमें जित्त भी न होता था। यदि होता भी था, तो उनको कोई महत्व न दिया जाता था। किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यवाहियों ने, ब्रिटिश और भारतीय प्रश्नों पर, नये दृष्टि-कोण से विचार करने के लिए, भारत के समाचार-पत्रों को, पर्याप्त मसाला दे दिया। इसी मसाले से परिपुष्ट होते हुए, गत ४० वर्षों में, भारत के समाचार-पत्र फलते-फूलते हुए विकास की वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं।

भारत में सम्पादन-कार्य की आरम्भिक अवस्था में बम्बई में टाइम्स ऑफ इण्डिया का विशेष मान था। आज की तरह हम समय में 'टाइम्स' भारत के ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्रों की सुलिया था। यह समाचार-पत्र 'आरम्भ से ही राष्ट्रीयों की राजनीतिक आकांक्षाओं का विरोधी रहा है। यह सम्पादन-कार्य भी समय-समय पर भारत में अंग्रेजी हितों के विरोधी ही रहे हैं। भारतीय आकांक्षाओं का विरोध करते हैं यह पत्र भारतीयों के भावों को घेरी उत्तमता से प्रक

करता था कि इस पत्र में प्रकाशित नोट रायटर द्वारा इङ्गलैण्ड भेजे जाते थे और वहाँ के 'टाइम्स' तथा अन्य लोकमान्य पत्रों में प्रकाशित होते थे। उन्हीं दिनों बम्बई में 'वाम्बेगजट' नामक एक दूसरा पत्र भी निकलता था। यह पत्र आयरिश होमरूल का पक्षपाती था और इसी साधारण बात पर, जिससे भारत का कोई सरोकार न था, इस पत्र और "टाइम्स" में सटपट रहा करती थी। दोनों एक-दूसरे के प्रचण्ड विरोधी थे। "वाम्बेगजट" का मालिक ग्रेटन जियरी नामक एक आयरिश था। हृदय से वह एक होमरूलर था। यही कारण था कि उन दिनों का योरपियन समाज उसे घृणा की दृष्टि में देखता था।

उन दिनों बम्बई में एक भी देशी अंग्रेजी दैनिक न था। "इण्डियन स्पेक्टेटर" नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक जरूर था जिसमें भारतीय जनता और भारतीय प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया जाता था। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में इस पत्र के विचारों का भारतीयों में विशेष मान था, किन्तु सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में इस पत्र का कोई विशेष महत्व न था। 'सार्वजनिक नीति' तो एक प्रकार से 'टाइम्स' और 'वाम्बेगजट' की सम्पत्ति हो चुकी थी। यह दशा तब तक रही, जब तक कि 'बम्बई समाचार' और 'जाम-ए-जमशेद' नामक दो गुजराती दैनिकों का प्रकाशन बम्बई में नहीं हुआ। इन देशी पत्रों के आक्रमणों का अंग्रेजी दैनिकों के एकाधिकार-पर विशेष आघात पहुँचा और

लाचार होकर उनके गुजराती से अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए दो पार्सी रिपोर्टरों को भी रखना पड़ा।

मद्रास और कलकत्ता में अंग्रेजी भाषा के देशी समाचार-पत्रों का आरम्भ अन्य स्थानों की अपेक्षा बहुत पहले ही हुआ था। हमने ऊपर जिन समय की अंग्रेजी का उल्लेख किया है, उस समय 'हिन्दू-पेट्रियट', 'इण्डियन मिस्टर' 'बंगाली' और 'हिन्दू' सरीखे देशी अंग्रेजी पत्रों का भारत में अन्तर्धान माना था। ये समाचार पत्र सरकार तथा उसके समर्थकों की पूरी आलोचना करते थे। किन्तु अभी यह त्रिपरान्तर की बात है।

५० वर्ष पहले 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के मासिक विभाग में एक सम्पादक, दो सहायक सम्पादक और एक चॉफ रिपोर्टर थे। ये सभी इंग्लैण्ड में बुलारे गये थे। इनके अतिरिक्त ४ स्थानीय रिपोर्टर थे, जिनमें दो पार्सी थे। 'वाग्ने-साइट' का भी प्रबन्ध इसी प्रकार था।

डा. जिन्स प्रिन्सिपल ने 'प्रिन्सिपल ऑफ जर्नालिज्म' ही एक पत्रों को रचना थी, जिसकी कार्यवाहियों को लोग पार में पढ़ते थे। देशी अंग्रेजी पत्रों में पारपोरेगा की जिनका कार्यवाही रूप में थी और इस कार्य के लिए जिसे 'चौथ रिपोर्टर' विदुक्त शिरो उपाय थे। उन दिनों पत्रों पढ़ने में लिए लोग ज्ञान को प्राप्त करने में रुका करते थे और राष्ट्रीय के रूप में २२ पत्रों की देशी पत्रों का भी प्रबन्ध न हो था। समाचार-पत्रों में भारत में

सभाओं की रिपोर्टें और हाईकोर्ट के केसों को पर्याप्त स्थान दिया जाता था। उस समय 'एसोसिएटेड प्रेस' जैसी सस्था का किसी को गुमान भी न था। इसीलिए विशेष सवाददाताओं के लिए कार्यक्षेत्र बहुत ही विस्तृत था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलनों का प्रथम फल १८९२ के इण्डियन-कौन्सिल्स-एक्ट के रूप में प्रकट हुआ। इस कानून के अनुसार कुछ लोक-सस्थाओं को निर्वाचन का अधिकार दिया गया। इसी के अनुसार सुप्रीम और प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों को शासन के सम्बन्ध में सरकार से प्रश्न करने तथा सालाना बजट पर विचार करने का भी अधिकार दिया गया। इस कानून के १५ वर्ष बाद भारत को मिन्टो-मार्ले सुधार-स्कीम मिली। इन सुधारों के परिणाम-स्वरूप जिन व्यवस्थापिका-सभाओं की स्थापना हुई, उनमें किये गये वादविवाद तथा प्रश्नोत्तरों से भारत के समाचार-पत्रों को नयी उत्तेजना मिली। देश के प्रमुख पत्रों की पृष्ठ-सख्या में वृद्धि होने के साथ ही उनके मूल्य में भी वृद्धि हुई। इसी समय से समाचार-पत्रों के कार्यालय में प्रबन्धक के युग का भी आरम्भ हुआ। १९ वीं शताब्दि के अन्तिम वर्षों तक समाचार-पत्रों के विषय में सम्पादक ही सर्वे-सर्वा था। किन्तु अब अवस्था बदल गई और उस समय से आज तक दिनोंदिन सम्पादक की अपेक्षा प्रबन्धक के महत्व में वृद्धि ही होती गई। वर्तमान समय में भारतीय

समाचार-पत्रों के कार्यालय के दो मुख्य विभाग होते हैं। एक का मालिक होता है सम्पादक और दूसरे का मैनेजर। पत्र की आर्थिक अवस्था का निरीक्षण और प्रबन्ध मैनेजर ही करता है। विज्ञापन-दाताओं का उससे सीधा सम्बन्ध रहता है। अतएव लोग भी सम्पादक की अपेक्षा उसे ही अधिक जानते हैं। सम्पादक को भी रुपये-पैसे के मामले में मैनेजर का ही मुख्य तयना पड़ता है।

१९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में घम्यर्ड की अपेक्षा पत्र-कत्ते में अंग्रेजी समाचार-पत्रों की गत्या भी अधिक थी और उनका सम्मान भी अन्धा होता था। उन दिनों 'इंग्लिशमैन' गैलो-इण्डियन पत्रों का मुग़िरा था और यमान में इसी पत्र का सर्कुलेशन सबसे अधिक था। इसकी प्रतिद्वन्द्विता 'स्टेट्समैन' से चलती थी। सन १९०६ तक स्टेट्समैन भारतीय आकाशाओं और हिनों का जबरदस्त समर्थक रहा है। उन दिनों इस पत्र के सम्पादक मि० एम० के० रेट्रिज बड़े ही योग्य समाचार-जर्नालिस्ट थे। उनकी लेखाओं में यह शक्ति थी कि उनके विरोधी भी उनके लेखों को पढ़कर लाभ उठाते थे। १९०६ में मि० रेट्रिज इन्-वैण्ड बल्ले गये और तब से इस पत्र का सम्पादन भार मि० ए० ए० जॉन्स नामक एक अंग्रेज के हाथ में है जो 'एडे गैलो-इण्डियन' होना हुए भी बड़े योग्य व्यक्ति हैं। आज ही के पत्र भारत परियम और योग्यता के परिष्कार-व्यवस्था प्राप्त हुए हैं।

भारत का प्रमुख दैनिक बना है। 'स्टेट्समैन' की ग्राहक-संख्या में वृद्धि का श्रेय स्टेट्समैन-कार्यालय के योग्य मैनेजर एच० ई० वाटसन को भी है। आप ही के प्रयत्न में लण्डन के दैनिकों के समान 'स्टेट्समैन' में भी एक पृष्ठ चित्रमय दिया जाने लगा है। आजकल 'स्टेट्समैन' भारत में एक मूल्यवान सम्पत्ति हो गया है। इसके सस्थापकों के ही अनुमान के अनुसार इसकी बाजार कीमत एक करोड़ रुपये है। यह बड़ी-चड़ी बातें भी कही जा सकती हैं, किन्तु यदि स्टेट्समैन की सम्पत्ति एक करोड़ की आधी भी हो, तब भी भारत में, जहाँ समाचार-पत्रों को जाय-चर्क से बहुत कम सहायता मिलती है, एक समाचार-पत्र के लिए इतनी बड़ी सम्पत्ति खड़ी कर लेना प्रशंसा की बात है। 'टाइम्स-आव-इण्डिया' और 'पायोनियर' के जाय-प्रेसों को पर्याप्त बाहरी आमदनी भी होती है। यदि स्टेट्समैन, जैसा कि इसके सस्थापकों का विचार था, सदा भारत-हितैषी बना रहता, तो यह निश्चय है कि वह आज की तरह उन्नति के इस ऊँचे शिखर पर कभी न पहुँचता। यह कट्टर सत्य इस बात को घोषित करता है कि भारत का विद्वत्समाज उस समाचार-पत्र को भी काफी सहायता नहीं दे सकता, जो भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का समर्थक होता है।

स्टेट्समैन के ही आकार और महत्व का मद्रास में 'हिन्दू' निकलता है। मद्रास प्रान्त में इस पत्र की ग्राहक-संख्या सबसे अधिक है। एंग्लो-इण्डियन पत्र 'मद्रास-भेल', इसमें बहुत पिछड़ा है।

१८५७ में कलकत्ते में 'इण्डियन टेलीन्यूज' नामक एक अन्य एंग्लो-इण्डियन दैनिक भी निकलता था। इसमें व्यापार-सम्बन्धी समाचारों की प्रधानता रहती थी। यदि अवसर से लाभ उठाने का यत्न किया जाता, तो संभवतः आज इस पत्र की गणना कलकत्ते के प्रमुख पत्रों में होती। यह पत्र पहले एक्सप्रेस टिगर्स और ब्राद के मि० के० के० सेन के सम्पादन में चलता रहा। अन्त में स्वर्गीय सी० आर० दाम ने इस पत्र का स्वतन्त्र प्रसिद्ध 'फारवर्ड' नामक समाचार-पत्र में सम्मिलित करके स्वराज्य-वादी का प्रमुख पत्र बना लिया। आजका इस पत्र की प्राक्क-संख्या भी अच्छी है। इसमें तब भी मन्नेर नहीं कि भारत के राष्ट्रीय अर्थोत्थानियों में सबसे अच्छा सम्पादन 'फारवर्ड' का होता है। यहाँ पत्र सर्वांगीण अधिक गैर-विशेष और गेडवे-धरम भी है। गुण स्वयं के उडा लो के फार्व में भी इसके रिपोर्टर अत्यन्त पटु होते हैं।

कलकत्ते की एंग्लो-इण्डियन अखबार तमिली का एक मूल रूप पूर्ण रूप घटों के मायादिक समाचार-पत्र है। भारत के किसी अन्य शहर में अमेठी मायादिकों का इतना अधिक लोग नहीं है। कलकत्ते में पहला अमेठी मायादिक पत्र 'इंडियन' १८५८ में निकला गया था। यह अमेठी मायादिक-समाचार-पत्र है। प्रायः इसी समय 'इण्डियन इन्फ़ॉर्मेशन' नामक एक दूसरा पत्र भी निकला गया था। दिवस-समाप्ति परत कर्तों के पत्रों पर

सर आशुतोष मुकर्जी इसी पत्र में गणित-सम्बन्धी उन लेखों को लिखा करते थे, जिनको अमेरिकन तथा योरपियन विद्वान भी विशेष रुचि से पढ़कर लाभ उठाते थे ।

भारतीय सम्पादन कार्य में प्रगति की दूसरी सीढ़ी का निर्माण बग-भग के समय में हुआ था । इस घटना ने बंगाल में खलवली मचा दी थी । बग-भग-आन्दोलन ने भारतीय महत्वाकांक्षा के आन्दोलन को एक जबरदस्त राष्ट्रीय रूप दे दिया । इस आन्दोलन को सफलता मिली, किन्तु इसके परिणाम-स्वरूप भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली बना दी गई । प्रायः उन्हीं दिनों भारत में एसोसिएटेड प्रेस-आफ-इण्डिया ने जन्म ग्रहण किया । सन् १९०३ में कर्जन दरवार में पेशवर कलकत्ते के तीन अंग्रेजी दैनिक गजनेट के हेडक्वार्टरों से खबरें उड़ाने के लिए विशेष सम्वाददाताओं को नियुक्त करते थे । उनका सबसे अधिक समय शिमला के हेडक्वार्टर में बीतता था । उन दिनों सरकार की दृष्टि में स्थानीय 'पायोनियर' का बड़ा सम्मान था । यह पत्र एक प्रकार से सरकारी सरक्षण में चलता था । शिमले में उन दिनों इसके विशेष सम्वाददाता हार्ड हेन्समैन बड़े चतुर रिपोर्टर थे । उन पर सभी सीविल एवं मिलिटरी अधिकारियों की कृपा रहती थी और इसी से वे अनेक ऐसी महत्वपूर्ण और ज्ञातव्य खबरें पा लेने में सफल होते थे, जो दूसरे पत्रों के सम्वाददाताओं को न मिलती थी ।

ये खबरें 'पायोनियर' के प्रथम पृष्ठ पर छपती थीं । प्रकाशित होने के बाद सारे भारत में ये खबरें ब्राडकास्ट की जाती थीं । सरकारी डेक्लैटर्स की खबरों का यह एकाधिकार केवल पायोनियर को प्राप्त था । पायोनियर के इस एकाधिकार को हटाने के उद्देश्य से ही कानूनी के दैनिकों ने अपने विशेष प्रतिनिधि को शिमला भेजने की आवश्यकता समझी थी । उन दिनों शिमलामें "इंग्लिशमैन" के मि० वर, "स्टेट्समैन" के मि० कोट्स और "इण्डियन-डेल्ती-न्यूज़" के मि० हेतम विशेष सम्वाददाता थे । ये तीनों मिलकर मि० वें० सी० राय नामक एक यज्ञारी की सहायता से सरकारी खबरों को पाते थे ।

बक और कोट्स ही एगोमिण्टेड प्रेस के प्रथम टाइपेस्टर हुए । मि० राय इनकी सहायता करते थे । भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों में प्रेस की एजेन्सियों के पायम हो जाने के बाद मि० राय ने भी एगोमिण्टेड प्रेस के टाइपेस्टर का पद प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और इनका स्थान किया जाने पर उन्होंने बक और कोट्स का साथ छोड़कर मि० यू० एन० सेन नामक एक पत्रकार व्यक्ति के साथ प्रेस-न्यूज़ नामक एक दूसरी संस्था स्थापन की । इस नयी संस्था की प्रतिष्ठिता को एगोमिण्टेड प्रेस वर्गगत न कर सका और वास्तव में एक ही पत्रकार को मि० राय की शर्तों को मानकर उन्हें टाइपेस्टर बनना पड़ा । आगे चलकर कोट्स ने प्रिंटेर को वापस ले लिये

लिया। अब यही सस्था भारत के सभी समाचार-पत्रों को खबरें वितरित करने के लिए प्रधान जरिया है। इस सस्था का सरकारी सरक्षण भी प्राप्त है। अभी हाल में 'फ्री प्रेस' नामक एक अन्य सस्था भी भारत में कायम हुई है। इसके मन्धापक कोई रिकमण्ड साहब हैं। अंग्रेजों के पत्रों की अपेक्षा भारत के राष्ट्रीय पत्रों से इस सस्था को अधिक सहायता मिलती है। यह सस्था जीवन-लाभ के लिए वहादुरी से विपरीत परिस्थितियों का सामना कर रही है। यदि सफलता मिली, तो आगे चलकर यह भी देश में एक चीज होगी। एसोसिएटेड प्रेस ने पायोनियर के एकाधिकार को नष्ट कर दिया है। साथ ही इस मस्था ने देशी तथा विदेशी खबरों का संग्रह करने के लिए अनेक मौलिक तरीकों को भी ईजाद किया है। भारत में एसोसिएटेड प्रेस और 'फ्री प्रेस' को छोड़कर खबरें वितरण करने की दूसरी कोई मस्था नहीं है। खबरों का प्रधान स्रोत 'रायटर' कम्पनी है। किन्तु प्रेस-टेलीग्रामों का मूल्य अब भी इतना अधिक है कि छोटे-मोटे दैनिक उससे लाभ नहीं उठा सकते। एसोसिएटेड प्रेस की दो सर्विसे देश में प्रचलित हैं। एक छोटी और दूसरी बड़ी। बड़ी सर्विस में खबरें विस्तृत विवरण में भेजी जाती हैं और छोटी सर्विस में बड़ी खबरों का सारांश मात्र रहता है। भारत के अधिकांश अंग्रेजी और देशी भाषा के समाचार-पत्र बड़ी सर्विस का मूल्य देने में असमर्थ

होने के कारण छोटी सर्जिस को ही अधिक पसन्द करते हैं। यही कारण है कि पापॉनियर, इङ्गलिशमैन, टाइम्स और स्टेट्समैन जैसे समाचार-पत्रों की प्रतियोगिता में वे टिक नहीं सकते। उनके सम्पादकों को पत्र में ग़ररे छापने के लिए फ ची की सहायता लेनी पड़ती है। 'लोडर' सर्रासे देशी समाचार-पत्रों का सम्पादन इसी प्रकार होता है। तब भी देश में ऐसे पत्रों की भी उपयोगिता है। ऐसे पत्र राजनीतिक दलों के समर्थक होते हैं। यही उनकी उपयोगिता का प्रधान मसूत है।

भारत के देशी भाषा के समाचार-पत्र अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों की छाया मात्र हैं। अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों की अपेक्षा इन समाचार-पत्रों के निकालने में अधिक परिश्रम और खर्च पड़ता है। तारों द्वारा ख़ररे अंग्रेज़ी में भेजी जाती हैं। समाचार-पत्र के आकिस में ख़ररों के पहुँचने ही अंग्रेज़ी पत्रों के गिपॉर्टर होने का मा, फुगुम्टाप और हूड्डन तागारर पपपॉडित के निग भेन डेत हैं। किन्तु देशी भाषा के समाचार-पत्रा प गिपॉर्टरा को खनका अगुगार करने की खिब उठती पड़ती है। का मा, फुगुम्टाप तागार की अपेक्षा अगुगार-खार्य अधिक कठिन जाता है। काय्य की खनशी समाचार पत्रों के गिण लप गे यथ, के खगार की अपेक्षा देशी भाषा के पत्रों में अधिक खगार की भी खगार पड़ती है। अनेक खररे गेगी जागे हैं, तागार टोर अगुगार भा नहीं हो सक्ता, खगार के खेदु की जागे हैं। खगार का

होता है कि उनमें एक अंग्रेजी दैनिक की अपेक्षा कम खबरें रहती हैं। देशी भाषा के दैनिक पर जितना खर्च पड़ता है, उसकी अपेक्षा आय बहुत कम होती है और निरन्तर हानि उठते हुए किसी भी कार्य को चलाना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि भारत में हिन्दी भाषा इतनी व्यापक होने पर भी उसके दैनिकों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। साप्ताहिक पत्रों के निकालने में कम दिक्कत पड़ती है और कोई विशेष व्यय भी नहीं करना पड़ता। खबरे सब अंग्रेजी पत्रों से प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिए भारत में देशी भाषा के पत्रों में साप्ताहिकों की संख्या अधिक है। देशी भाषा के पत्रों की प्रधान उपयोगिता उनके प्रचार-कार्य में है। गाँवों तथा ऐसे शहरों में, जहाँ अंग्रेजी शिक्षा अधिक व्यापक नहीं है, देशी भाषाओं के पत्रों की अधिक विक्री होती है। हिन्दों की अपेक्षा बंगाल के समाचार-पत्रों का सम्पादन अधिक अच्छा होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि बंगाली समाज अधिक शिक्षित है और भाषा-साहित्य का अधिक आदर करता है। उस भाषा में “बंगलार कथा” जैसे पत्रों का सम्पादन तो बिल्कुल अंग्रेजी पत्रों के आदर्श पर होता है। “बंगलार कथा” का सम्पादन ‘फारवर्ड’ प्रेस से होता है। अतएव खबरें प्राप्त करने के लिए इस पत्र को अतिरिक्त व्यय नहीं करना पड़ता, फारवर्ड ही के व्यय से इसका भी काम चलता है।

हिन्दी-पत्रों में 'आज' 'वर्तमान' 'स्वतंत्र' 'विश्वमित्र' और "भारतमित्र" अच्छे दैनिक हैं। इन सब पत्रों में कुछ वर्षों पहले "भारतमित्र" का सम्पादन बहुत ही उत्तम ढंग में होता था। अत्र यह पत्र अपने आदर्श से नीचे गिर गया है और इस पत्र का सम्पादन कलम की अपेक्षा शायद कहीं भी सहायता से अधिक होता है। स्वतंत्रों के मजदूर करने में इन सभी पत्रों की अपेक्षा 'स्वतंत्र' शायद अधिक व्यय करता है। इनके कार्यालय में 'फ्री प्रेस' तथा 'ग्लोबलिस्ट प्रेस' से भी धेरे तार भेगाये जाते हैं। युक्तप्रान्त में 'आज' और 'वर्तमान' का अच्छा आदर है। ये पत्र घाटेपर नहीं खाते। उहाँ इनकी सामयिक है। किन्तु इनका सम्पादन, सम्पादकीय प्रयत्न और लिपिशिष्टों को छोड़कर, बहुत ही दुर्ग होता है। 'आज' को 'तीर' का अनुवाद माना जाता है। आरम्भ में 'आज' भी 'ग्लोबलिस्ट प्रेस' और 'स्वतंत्र' से भी धेरे तार भेगाता था, किन्तु अब परीक्षा न कर सकने पर लाचार होकर उमे 'तीर' की मजदूरी के अनुवाद-मात्र में ही मन्तोप करना पड़ा। यह सब होने हुए भी यह पत्र बहुत ही अच्छा और माननीय है। स्वतंत्रों के लिए 'वर्तमान' को भी अमेरिका समाचार-पत्रों का दुर्ग मन्ता पड़ता है। बनारस और कानपुर में कोई अमेरिका दैनिक नहीं है इसी लिए एक दोनो शहरों में इन दैनिकों को पारी स्थित हो गली है। प्रयाग में एक अच्छे दैनिक के निरन्तर की पारी सुझाव

है और 'लीडर' अथवा 'पायोनियर' के सरक्षण में एक उत्कृष्ट हिन्दी दैनिक निकाला जा सकता है।

हिन्दी की अपेक्षा उर्दू दैनिकों तथा साप्ताहिकों की दशा अधिक अच्छी है। लीथो के कारण उनकी छपाई का कार्य जल्दी और कम व्यय पर होता है।

हिन्दी के दैनिकों की अपेक्षा साप्ताहिकों का सम्पादन अधिक अच्छा होता है, क्योंकि साप्ताहिक में धीरे-धीरे काम करने का पर्याप्त समय मिल जाता है। सब बातों पर विचार करके कहना पड़ता है कि भारत में देशी भाषा के पत्रों का भविष्य अच्छा नहीं है। जब तक डाक और भारत-सरकार की कार्यवाहियों की भाषा का माध्यम अंग्रेजी भाषा रहेगी, और जब तक देश के सभी कार्यों में अंग्रेजी की प्रधानता रहेगी, तब तक देशी भाषा के अखबारों की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के अखबारों को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती रहेगी और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में देशी भाषा के अखबार टिक न सकेगे। देशी भाषा के समाचार-पत्र न तो अंग्रेजी समाचार-पत्रों की तरह न एडवेंचरस ही हो सकते हैं और न रोमैण्टिक ही। किन्तु अंग्रेजी भाषा के पत्रों का भविष्य अच्छा है। भारत को स्वराज्य मिल जाने पर भी देश में अंग्रेजी भाषा की प्रधानता रहेगी और उस समय भारतीय जनता अंग्रेजी राष्ट्रीय समाचार-पत्रों का अधिक कदर करेगी।

। इधर हात में अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने चित्रों के प्रकाशित करने का एक नया रूप धारण किया है। चित्रों की माँग की पूर्ति के लिए 'एसोसिएटेड प्रेस' और 'फ्री प्रेस' के आधार पर बड़े फोटो एजेन्सियों भी भारत में क्रायम हो रही हैं। फलफला और बम्बई में कई विदेशी फोटो एजेन्सियों हैं, जो विदेशी घटनाओं के फोटो समाचार-पत्रों में प्रितरित करती हैं। अखबार-नगरीमी का नया रूप सभी स्टेटस्मैन, पायोनियर, ट्रिब्यून, हिन्दुस्तान-टाइम्स, हिन्दू तथा कुछ अन्य प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रों तक ही परिमित है। हिन्दी में भी चित्र छापों की प्रथा के अनुकरण का धीमे-धीमे हो गया है। परन्तु इस विषय में भी गर्च में बढ़ने के लिए एक तरीका प्राण किया गया है। यहाँ भी अखबार-नगरीमी के प्रभाव शम्भू हींची की अजररुद गति है। अखबारों में प्रकाशित खरुरी रिप्र में भी फाटर तथा उनमें कुछ परिवर्तन करके जात्र घनवा गिर जात हैं और उन घनाओं का प्रयोग अखबारों में किया जाता है। किन्तु हिन्दी अखबार-नगरीमी की एमी दरतीर तथा के होत हुए भी उनके अन्त होत का पोटै भर नहीं, करोंकि हर मौमरे बरं धुताया के अनातों में गच्छे बिना कात घनात बटित हो जाता है। तमें अगूर अखबारों का आधार-ब्र पन्नात्र रागभ भी लडा होत है।

—शामपर दुषे

हिन्दी-साहित्य मे सामाजिक इतिहास

[१]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे एक स्थान पर जनक और याज्ञवल्क्य का परस्पर सवाद है। उसमे वाक् किम्वा वाणी की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। जनक पूछते हैं—

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य

अर्थात्, प्रज्ञता क्या है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

वागेव सम्राडिति हो वाच । वाचा वै सम्राड्बन्धु
प्रज्ञायत ऋग्वेदो युजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण
विद्या उपनिषद् श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्ट

हुत माशित पायितमय च लोक परश्च लोक सर्वाणिच भूतानि
वाचैव सम्राट् प्रजायन्ते ।

अर्थात्, हे सम्राट् ! वाक् ही प्रज्ञता है, वाक् ही से वन्धु
का ज्ञान होता है, वाक् ही से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,
अथर्वान्धिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र,
अनुश्रव्याग्यान व याग, होम, अन्नदानादि निमित्त होनेवाले
ममस्त धर्म इहलोक तथा परलोक जाने जाते हैं । वाणीद्वारा
प्रकट इनी ज्ञान-समुच्चय का नाम वाङ्मय है । मराठी भाषा
में साहित्य के अर्थ में प्रायः वाङ्मय शब्द ही का प्रयोग होता
है । अतएव वाङ्मय किन्त्या साहित्य में न केवल परमार्थ सत्त्वों
का विवेचन होगा है, वस्तुतः तौलिक पथम व्यावहारिक ज्ञान भी
साहित्य की सीमा के अन्तर्गत हैं । साहित्य का यह व्यापक
अर्थ है । संस्कृत विद्वानों ने भी सभ्यता और उसके साथ
दौलिक विकास के ज्ञान के जायना में साहित्य को प्रमुख
स्थान दिया है ।

साहित्य की विराट् व्यापकता करने की तो आवश्यकता नहीं
परन्तु तब याने की आवश्यकता तो है कि वाच्य तथा वाच्य-निष्ठा-
काया के रूपों और विषयों पर प्रकट विवेक करने विभागों की का
ताम साहित्य नहीं है । उमरी वला आवश्यकता है कि वाच्य के
समस्त विभागों में वाच्य विभाग सिद्धों भाषा के साहित्य का
सम्पूर्ण बना लेने है । इसमें ने साहित्य की व्यापकता करने हुए

लिखा है कि वह सर्वोत्तम विचारों का संग्रह है, दूसरी ओर ५० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ज्ञानराशि के सञ्चित कोष ही का नाम साहित्य है। इमर्सन से द्विवेदीजी की व्याख्या कहीं व्यापक है। एक सर्वोत्तम विचारों ही को साहित्य मानता है, तो दूसरा सम्पूर्ण ज्ञानराशि को साहित्य का रूप देता है। साहित्य का उद्देश्य निश्चय ही सर्वोत्तम है, परन्तु साहित्य के निर्माता उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम विचार सदैव ही प्रकट नहीं किया करते। यदि साहित्य मनुष्य के विचार-समूह का नाम है, तो वह मनुष्य समाज का प्रतिबिम्ब भी होना चाहिए। यदि नौ मी वर्ष के हिन्दी-साहित्य में हम केवल अलङ्कार और रम ही देखते रहे, यदि उसके काव्य में हम राधा-कृष्ण किम्बा नायक-नायिकाओं का अभिसार-विहार ही पाते रहे और यदि उसमें हमें केवल मला के नियमों का दिग्दर्शन ही मिलता रहे, तो कहना पड़ेगा कि इस साहित्य में जीवन नहीं है। किन्तु देखा जाता है कि जो साहित्य के ज्ञाता और मर्मज्ञ होते हैं, वे ही साहित्य की वास्तविकता से वञ्चित रहते हैं। ग्रामीण जनता से जाकर पूछिए कि तुलसी, सूर और कवीर के काव्यों को सुनकर उन्हें क्या प्रतीत होता है। मेरी धारणा है कि आप उनके हृदय में कवीर का वैराग्य पायेंगे, तुलसी और सूर के राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा पायेंगे। सच पूछिए तो साहित्य का निर्माण इसीलिए होता है। जेठ की दोपहरी में गेहें जोतते

दृष्ट स्वैर-प्रपूरित किमानों के 'कई कड़ी सुनो भड माधो' या 'तुलसीदास भजो भगवाना' के आताप में आप साहित्य की तो छटा पायगे वट इस कमरे में नहीं, जहाँ कविता और कला की परिभाषा की जाती है, जहाँ अतद्भाग और रस पर विवाद किया जाता है ।

मुझ पर यह शेष लगाया जा सकता है कि इन तथ्यों में मैं साहित्य की क्षेत्र उपयोगितावाद की दृष्टि में देखता हूँ । साहित्य तो बहुत व्यापक अर्थ रखता है, परन्तु मैं तो साहित्य की एक शाखा—काव्य को भी इसी दृष्टि में देखता हूँ । कला की दृष्टि में कान्य का अध्ययन इने-गिने लोगों को आनन्द देनेवाला भव ही हो और उसके ज्ञान से परीक्षार्थियों का नाम नलें ही हो, परन्तु इसमें सर्वसाधारण का क्या स्थिति हो सकता है ? साम्यामी सुगमोपायों ने किया है—

योगी, भक्ति, भूति भक्ति सोई । सुरमति सम मयकर दिन सोई ।

तुलसीदासजी को भाव्य कैसी भी, अन्ततः किन्तु एतन्ने का प्रयास किया है, उनकी कविता में रसों का परिचायक भंग्या कृपा है, आदि काने सर्वसाधारण ने समझने की नहीं है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि उन्होंने किस साहित्य का निर्माण किया है, यह सर्वसाधारण के लिए नहीं है । यदि ऐसा होता तो आज भारतीयों में राम कवि कल्प ५ वें अक्षर पर न हीरक काव्य कि महाकाव्यीय ज्ञान रसों के

‘विद्वान् सम्पादक डा० केतकरने लिखा है—‘जनता की मनोवृत्ति और काव्योत्पादन का परस्पर निकट सम्बन्ध है। काव्य की परीक्षा जनता अपनी मनोवृत्ति ही के अनुसार करेगी। अतः जनसमाज की मनोवृत्ति ही काव्य की मर्यादा निश्चित करती है।’ जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—‘If you would understand an author, you must understand his age The same thing is just as true of a book If you would fully comprehend it, you must know the age There is an order, there are causes and relations between great compositions and the societies in which they have emerged’ दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साहित्य और समाज का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य के रूप में हम समाज का दर्शन कर सकते हैं। यही कारण है कि साहित्य को देश का प्राण कहा जाता है। साहित्य के अध्ययन की एक दृष्टि यह भी होनी चाहिए कि उसमें उस देश का सामाजिक इतिहास कहाँ तक और किस प्रकार अङ्कित किया गया है।

[२]

नौ सौ वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका। उत्तरी भारत ने अनेक राज्यकान्तियाँ देखी, बीसियों राज्यवशों का सहार देखा। हिन्दी साहित्य अवश्य ही इस इतिहास का साक्षी है। हिन्दू-

साम्राज्य के पतनकाल में जिसका शौरव वर्तीत हुआ, मुगल-साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ ही उसके यौवन का विकास हुआ। किन्तु जिस साहित्य ने अपने शौरवकाल में वीरगाथाओं की लोरियाँ सुनी थीं, वही शैव-दुर्विपाक से मुगलों के विलास-वैभव के युग ने शृंगारी नायिकाओं के रम में ऐसा देखा कि हवाई जहाजों और गोलों का भय भी उसे मचेत नहीं कर सफा है। फिर इसी यौव में मत-महात्माओं ने उसे वैराग्य की ओर घसीटा, तो दूसरी ओर भक्तों ने अपने रक्त में उसे रँगना चाहा। जिसके शौरव का अन्त और यौवन का आरम्भ हो, उसे भक्ति और वैराग्य का धाने पैसे सुहा सकता है ? इस धार्मिक भावना के विकृत प्रतिक्रिया के रूप ही में नागा हिन्दो-साहित्य का यौवन शृंगार की गोद में जा सोया और ऐसा सोया कि नायिका की भैरवी भी आज तक मातृकर बन रही है—

‘विनती इनी है पै हमेश ह मुई तो निज ,

पावेन की धूरी परिपारिका गा रहे।

या हो में मत्त मा-साहज ! हमारी मा ,

उगा लगाउ लग-भगाउ बने रही ॥

इसी हिन्दी साहित्य में हम अपने समाज का रूप दर्शा सकते हैं। इस पाठ में परिणाम है। हिन्दी-साहित्य का यौवन का भला नहीं है, किन्तु इस भाग के बीरगाथाओं में हिन्दु-समाज का भाव है जैसे है। हिन्दु समाज पर महाकाव्य भावना की संभावना का

प्रभाव है, अतः हिन्दी-साहित्य में सामाजिक इतिहास को रोजना किमी नवोनता का परिचायक नहीं। फिर गुजराती, मराठी और वगला आदि भाषाओं का भी तो साहित्य है। उन प्रान्तों की सामाजिक व्यवस्था संस्कृत में हिन्दी-भाषा-भाषियों से विभिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य में समाज के इतिहास का कोई महत्व नहीं। ये आपत्तियाँ ठीक हैं। मूलरूप में समग्र हिन्दू जाति, चाहे उसके अन्तर्गत कितने ही भिन्न भाषा-भाषी हों, एक ही संस्कृति धारण करती हैं, किन्तु यदि एक ही समाज के दो व्यक्तियों में विचार-भेद हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि एक ही जाति के भिन्न भाषावाले साहित्यों में अन्तर न पाया जाय। खीन्द्र की 'चित्रा' में प्रेम और कर्तव्य का जो चित्रण है, गुजरात के महाकवि नान्हालाल के 'जया और जयन्त' में वह एकदम भिन्न है। तब एक है, परन्तु साधन भिन्न हैं। बङ्किम के 'आनन्द मठ' में जिस समाज को स्थापना की गई है, तत्कालीन अन्य प्रान्तीय साहित्यों में और किसी के मस्तिष्क की ऐसी उपज थी, यह नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास का समाज एक आदर्श की भित्ति पर खड़ा है, तो महाराष्ट्र के राष्ट्रीय सन्त रामदास अपनी समाज-व्यवस्था में दूसरा ही ढंग रोजते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि जब वस्तुतः हिन्दू जाति को समाज-व्यवस्था एक ही-सी है, तो साहित्य के रूप में विद्वानों द्वारा प्रदर्शित आदर्श समाजों को ऐतिहासिक कहना भूल है। अवश्य ही इति-

इस शब्द का मैं वास्तविक घटनाओं के उल्लेख में प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। सम्भव है कि मैं यहाँ समाज-सम्बन्धी जिन घातों का उल्लेख करूँ वे वास्तविकता से परे न हों, परन्तु मेरा लक्ष्य केवल इतना है कि समाज विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर मैं यह दिखा सकूँ कि हिन्दी-साहित्य में इस सम्बन्ध में क्या और किस प्रकार कहा गया है। इसी में इतिहास शब्द को भले विचारों के इतिहास के रूप में प्रयुक्त किया है।

[३]

समाज के मूल में व्यक्ति का निवास है। व्यक्ति ही ने समाज बना है। मनुष्य शरीर की नश्वरता स्वीकार करने हुए भी हमने 'सत्ता' का महत्त्व समझा है—

थड़े भाग भातुषना पाया । सुखदुःख सब प्रथमि माया ॥

× × ×

कष्टदुःख परि कर ता नन्दही । देन ईम विनु देत मोही ॥

—सुतगीतम

× × ×

जग्य श्रीरामा गोवि न, मातुष जग्न धनुष ।

—बदीर

अर्थात् य इस युग में, विद्या के लक्ष्य में रहनेवाले मनुष्य-विशाल की इस धूम में, मातुष की परिभाषा कायम में एक लोभ-प्रयोगवादी शक्ति के अर्थ में ही गई है और इसका यहाँ का अनु-

वेद-शास्त्रियों ने यद्यपि मनुष्य की वनावट की ओर पूरा ध्यान दिया है, फिर भी उसे भौतिक दृष्टि से 'हाड-मांस का पूतरा' के अतिरिक्त और अधिक महत्व नहीं दिया गया है। तथापि हमारे समाज में मनुष्य को औजार चलानेवाला प्राणी नहीं कहा है। उन्होंने मनुष्य-शरीर को इस प्रकार आर्थिक विकास का साधन न बनाकर पारमार्थिक साधन ही का हेतु माना है। समाज के मूल हेतु मनुष्य के चरित्र-विकास में, भारतीय और योरपीय सस्कृति में, यह महान् अन्तर है। हिन्दी-साहित्य में इस भारतीय चरित्र की पूरी रक्षा की गई है। समाज के कर्तव्यों को पूरा करते हुए भी पद-पद पर यह चेतावनी दी जा रही है—

का निचित रे मानस । आपन चीते आछु ।

लेहि सजग होइ अगमन मन पछिताव न पाछु ॥

—जायसी

मनुष्य-प्रकृति तीन गुणों से युक्त है—सत्व, रज और तम। थोड़े-बहुत अंश में प्रत्येक में ये गुण वर्तमान रहते हैं। इन्हीं गुणों के न्यूनाधिक्य पर मनुष्य-चरित्र सगठित होता है। हम मनुष्य को उसके सात्विक गुण के कारण देवता समझने लगते हैं और उसकी घोर तामसी प्रवृत्ति के कारण उसकी गणना निकृष्ट श्रेणी में करने लगते हैं। परन्तु मनुष्य में एक विशेषता है, उसमें इन गुणों के ऊपर अकुश रजने की क्षमता है। इसी से वह भला और बुरा बन सकता है। हमारे यहाँ के माधु और असाधु

पुरुष इसके उदाहरण हैं। प्लेटो ने मनुष्य को तीन भागों में विभक्त किया है, वे हमारे तीनों गुणों में अधिक अन्तर नहीं रखते। किन्तु हमारे विद्वानों ने इस प्रकार का भेद न रखकर सभी मनुष्यों को एक ही श्रेणी में रख दिया है। यही उचित भी है, क्योंकि व्यवहार में प्रयुक्त है। हमारे समाज में मत भी हैं अमत भी। और प्रायः देखा जाता है कि हमारे चारों अमत भी राज्याधिकारी बन बैठते हैं। राखण, फस और छिरण्यवरपु अस्त त कौटिक के मनुष्य हैं। पौरुष में आदर्श समाज की कल्पना करनेवाले सघर्ष से दूर भागते हैं। उनमें हमारे यहाँ के शृंगारी कवियों की भाँति 'नारहुमान्य जन्त' की कल्पना गती है। दूसरी ओर हमारे विद्वानों ने शक्ति के विभाजन और शिवा तक रूपों को प्रकटकर जीवन-समाम में सद्गुणों की शिवा और असद्गुणों की हार का जीवित चित्र अंकित किया है।

फिर भी व्यक्तिगत रूप से यह सत्य है कि मनुष्य जीवन की याम्यविकृता या प्रत्येक शक्ति अनुभव नहीं करेगा। मनुष्य पौरुष की याम्यविकृता उसके शक्ति-संपादन से है। 'अज्ञान करै न पावरी पदा करै न कान' के विचार रखते-रखते अज्ञान गता की नहीं समझते। हमारे समाज में ऐसे विचार रखते-रखते मनुष्यों की संख्या कम नहीं रही है। फिर, जो लोग शिवा की पूजा अर्चना पेट भर लेते और शांति मांगते वह देते हैं वे भी जो मनुष्य जीवन के गुण में वृद्धि रहते हैं। समाज-विकास की

भावना का रहस्य अकर्मण्यता में नहीं रहा है, इसका अनुभव भी हम कर चुके हैं। आज यदि खीन्द्र की कविता में खेत में खड़े धूल-भरे किसान के सामने मुक्ति खेलती है, तो, बहुत पहले कवीर साहब हमें यह सबेसा दे गये हैं—

कोने परा न छूटि हो, सुन रे जीव अवृक्त ।
कविरा मड मैदान में, कर इन्द्रिन से जूक्त ॥

किन्तु मनुष्य की शक्ति को वही तक बढ़ने देना चाहिए जहाँ तक उसमें आत्माभिमान न पैदा हो। मनुष्य सर्वत्र विजयी नहीं होता। अजेय कहलानेवाला नेपोलियन भी एक दिन हारकर बन्धन में पड़ गया था। प्रगतिशील जापान में भूडोल ने टोकियो टापू ही उलट दिया, और अभी उस दिन भयंकर तूफान ने इ ग्लै ड में हाहाकार मचा दिया था। इसी से मनुष्य के अभिमान को अक्रुश में रखने की आवश्यकता है।

रहिमन अती न कीजिए, गहि रहिए निज कानि ।
सहिजन अति फूले तऊ, डार पात की हानि ॥
तेहि प्रमान चलिवो भलो जो सब दिन ठहराइ ।
उमँडि चलै जल पाट तैं, जो रहीम बढि जाइ ॥
जो रहीम होती कहँ, पमुगति अपने हाथ ।
तौ को धों किहि मानतो, आप बडाई साथ ॥

—रहीम

मनुष्य-प्रकृति का एक लक्षण उनका परम्पर मसर्ग (Association) है। यदि हम ध्यान में देखें तो मनुष्य-जीवन का अधिकांश हमी मसर्ग को निरादने में व्यय होता है। घर-द्वार, कपड़े-लत्ते, खान-पान की वस्तुएँ आदि किस उद्देश्य में स्रष्ट की जाती हैं ? अस्तित्व के लिए; और ये सब वस्तुएँ किस प्रकार प्राप्त होती हैं ? परम्पर के सहयोग से। जन्म में लेकर आग्रहण और कदाचित् उसके घाट भी यह मसर्ग-व्यवहार नहीं छूटना। तीनों प्रकार की आपदाओं में घबरेने के लिए उसे किमी-न किमी का सहारा देना पड़ता है। दूसरी ओर यदि हम मनुष्य की गरि-भिड़नेवाली प्रकृति को ले तो उसके लिए भी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। हम तो देखते हैं, लड़के नगरे में अन्धकार का चितना बड़ा प्रमाण पाता है, जना और किसी व्यवस्था में नहीं। यदि गचन न पाता तो देखाओं का अस्तित्व क्यों था ? यदि गण-राज न होता तो राम राज की सत्यता ही किसे जानी ? देवताएँ जिन समय भयभीत होकर श्रुति करते हैं, उस समय ईश्वरीय धारणा का विकास होता है—

जनि न पृथु श्रुति मित्त सुमेता । गुणैः त्वाति भर्तुः सधेता ॥
 अमनमाह्य मनुष्य स्वराग । देवैः शिखर धम तदता ॥
 शक्तिः मन्वन् भूनि-गण्यते । निर्भव होत् एन मनुष्यो ॥

इसमें एक पूरे मनुष्य की शक्ति का धीरे-धीरे विकास होता है। इतर

किसी समाज का इससे अच्छा नियंत्रण और कहाँ हो सकता है ? दूसरी ओर संगठित समूहों के कार्यों पर विचार करते हुए प्रश्न हो सकता है कि प्रथमतः उसमें मतैक्य हो नहीं सकता, और यदि हुआ भी, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह समाज के हित के लिए ही है। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज-रायसा ही को लीजिए। पृथ्वीराज के १३—१४ युद्धों में सभवतः तीन चौथाई केवल विवाह के लिए हुए थे। इस दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि इन युद्धों में जिन सैनिकों के प्राण गये, उससे उनका हित हुआ। पृथ्वीराज के इशारे पर और उसके व्यक्तिगत हित के कारण ही असंख्य सैनिकों को मर जाना पड़ा। किन्तु जब रावण के विरुद्ध राम युद्ध की घोषणा करते हैं, तो उसमें न केवल सैनिकों में उत्साह दिखाई पड़ता है, वरन् देवता और मनुष्य सभी ऐसे युद्ध की अभिलाषा करते हैं। ऐतिहासिक काल ही में राणा प्रताप का उदाहरण लीजिए। जिस समय सर्दारों का एक प्रतिनिधि राणा से कहता है—‘अन्नदाता’ यह आपके कहने की बात है। क्या आप अपने लिए यह कष्ट उठा रहे हैं ? जिस जन्म-भूमि की रक्षा में आप इतने दुःख सह रहे हैं, वह क्या हमारी नहीं है ? उसकी रक्षा क्या हमारा कर्तव्य नहीं है ?’ तो यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है कि इस समय एक व्यक्ति की आज्ञा का पालन ही समष्टि के हित का कारण है।

समाज में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है,

जब दो व्यक्तियों की अनिच्छा पर भी उन्हें एक दूसरे का साथ देकर उद्देश्य को पूरा करना पड़ता है। उदाहरण के लिए मत्य-हरिश्चन्द्र नाटक की स्मशानवाली घटना लीजिए। गौन्या के पाम वस्त्र धा ही नहीं, अतएव क़रुण देने की ओर उसका ध्यान भी न था, उधर हरिश्चन्द्र अपने पुत्र की लाग देगकर कभी पत्रन की इच्छा न कर सकते थे। किन्तु दोनों के सम्पुत्र कर्तव्य था और इसीमें इच्छा के विरुद्ध दोनों को एक-दूसरे का साथ देना पड़ा।

मनुष्य के पारस्परिक सहयोग का एक वास्तव आध्यात्मिक एकता भी है। हिन्दी-साहित्य ने हमारे समाज में इस प्रकार की एकता के बहुत सुंदर उदाहरण दिये हैं। जिस समय कबीरदास कहते हैं—

यह तो याद ता एक है, एक प्राण जुड़ गाल ।

अपने जिय में जानिए मेरे गिर की धान ॥

तब मनुष्य इन्द्र की विशालता सर्ग पर ही रह हमारे सम्पुत्र का भागी है। तब मृदा में एकता है यह आधार इतना सुरष्ट है कि पौष्टि दादि प्राणियों इतर तर की मरणा को नहीं गिरा सकता। यदि आध्यात्मिक एकता की ओर ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान जाता तब तो मनुष्य में भेदभाव मिट जाये। यह गीत है कि सर्वसाधारण जात इतर प्रकार का पेशा नहीं करता इतर में ही ही श्रेष्ठ के अन्तर्गत में गिरा लगे हुए ही होकर रहते हैं। गिराके कारण अब कभी न कभी पेशा बदलने का भाव

करना पडता है। पर तु समाज का यह आदर्श एकदम कल्पित नहीं है। अपने ही समान इन्द्रियधारी मनुष्य को देखकर एक दिन प्रत्येक व्यक्ति सोच सकता है कि आखिर वह भी मनुष्य ही है।

[५]

समूह के पश्चात् सस्थाओं का नम्बर आता है और सभ्यता के विकास में हमें इनका दर्शन बहुधा होता रहता है। यों तो शिक्षा, उद्योग तथा शासन-सम्बन्धी अनेक सस्थाओं की परिगणना की जा सकती है, और हमारे माहित्य में ऐसी सस्थाओं के वर्णन की कमी नहीं है, फिर भी विवाह और भापा के रूप में दो ऐसी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य-समाज को निरन्तर एकता के सूत्र में आवद्ध रखती हैं। यहाँ हम केवल भापा ही के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। भापा मनुष्य के विचार-प्रदर्शन का एक साधन है और भले ही उस भापा द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे का हित न करे, किन्तु सहयोग के लिए उसे भापा का आश्रय लेना ही पडता है। भापा के सम्बन्ध में प० महावीरपूसाद द्विवेदी के ये विचार कितने सुंदर हैं—‘विजित देशों पर विजेता क्यों अपनी भापा का भार लादते हैं? आष्ट्रिया के जिन पान्तों पर इटली का अधिकार हो गया है, वहाँ छल, बल और कौशल से क्यों इटालियन भापा ठूँसी जा रही है? जर्मनी क्यों अपने दलित देशों या प्रांतों में अपनी ही भापा का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रचंड

पूत्र कर चुका है ? क्यों अभी उसने उस दिन जर्मन अफसरों और कर्मचारियों को यह आज्ञा दी थी कि रूरप्रांत में फ्रामवालों के कहने से रजरदार, अपनी भाषा छोड़कर फ्राम की भाषा का कदापि व्यवहार न करना। मुँह से जो शब्द निकालना, जर्मन भाषा ही के निकालना। इसका एक मात्र कारण स्वराज्य और स्वभाषा का घना सम्बन्ध है। यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गई ही समझिए। बिना अपनी भाषा की नींव टूट फिर स्वराज्य की नींव नहीं टूट हो सकती। जो लोग इस तत्व को समझते हैं, वे गर मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते। दक्षिण अफ्रीका में अपने अस्तित्व-नाश का प्रसन्न आजाते पर भी बोअरों ने अपनी भाषा को अपने से अलग नहीं किया। जिसमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो फ्रान्स के जादू को जानते हैं वे प्रायः शत्रु कभी अपनी भाषा का त्याग नहीं करते। यही तो जिम नमन धार्मिक क्षेत्र में सभ्यता के अभिमान की पण्डितों के पागलपन विदारण के लिए मार्ग का प्राथम्य बता रहा है, जो राजानन्द जैसे धर्म प्रचारक ने हिन्दी भाषा द्वारा जनसाधारण को अर्थी और करने का प्रयत्न किया, उन्हें से तो कर्तव्य है। जिन्होंने आंग्ल और नमन-सुधारक पैदा हो गया। मोरारजी पुजारी-जगदी ने भी जो भाषा का भाव का अर्थ लेकर समझना ही अज्ञान-वर्जित की। इतने भाव ही फ्रान्स के लिए भी एक ही जगह से समझने पर मोरारजी

नेहरू का मुँह बंद कर दिया गया। राष्ट्रीय एकता के लिए तभी तो महात्मा गांधी राष्ट्रभाषा का महत्व पकट करते हैं। सारांश यह कि समाज के निर्माण में व्यक्ति के साथ उसकी भाषा का भी प्रमुख स्थान है।

[६]

मानव-प्रकृति की आलोचना करते हुए हमने थोड़े में यह समझने की चेष्टा की है कि समाज-विज्ञान के सिद्धांतों का हिन्दी में व्यवस्थित विवेचन न होने पर भी उसमें वे सब बातें मौजूद हैं, जिनको एकत्रितकर इस शास्त्र का भारतीय दृष्टि से निर्माण किया जा सकता है। व्यक्ति की इच्छा, उसके विचार और प्रकृति के स्वाभाविक प्रवाह को समझकर हम यह भी मालूम कर सकते हैं कि वह एकता और सहयोग की ओर है। इसके पश्चात् जब हम राष्ट्र-व्यवस्था के क्रम को देखते हैं, तो सबसे पहले हमारी दृष्टि कुटुम्ब पर जाती है। कुटुम्ब की व्यवस्था और उसकी सुन्दरता के बड़े सुंदर उदाहरण हमारे साहित्य में मिलते हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के अतर्गत कुटुम्ब का जो स्वरूप हमें देख पड़ता है, उसमें कुटुम्बगत प्रत्येक प्राणी के परस्पर व्यवहार नियमों और आदर्शों का वर्णन तो है ही, परन्तु मातृत्व और वात्सल्य के विषय में अतिशय विशद विवेचना की गई है। रामायण की कुटुम्ब-व्यवस्था में हम सभी प्रकार के मनुष्य देखते हैं, भाई, पुत्र, माता, पिता, मित्र, पड़ोसी सभी कुटुम्ब की

व्यवस्था के सहारे चलते हैं, एक-दूसरे का कर्तव्य भी भली-भाँति समझते हैं, यहाँ तक कि पातित पशुओं के प्रति भी कुटुम्ब में स्थान है और मनुष्यत्व इस बात के लिए तत्पर रहता है कि उस कुटुम्ब द्वारा आगत अतिथियों, माधु सत, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक का कल्याण हो सके ।

कुटुम्ब का मूलाधार क्या है, इन सम्बन्ध में हमारे साहित्य में विभिन्न मतों का पोषण किया गया है । हिन्दी-साहित्य के आदिकवि चंद्र चरदाई ने पृथ्वीराज के चरित्र-वर्णन में उनके पराक्रम हों के विषय में मंत्र कुट्ट लिया था है । फिर भी उहाँ उस चरित्र से तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का दर्शन मिलता है वहीं एक बात बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो जाती है कि युद्ध के योग उसकी प्रेम भावना दबती नहीं । विवाह के पारंग इतने युद्धों का करना यदि हम पृथ्वीराज के लिए अपमान भी मानें, तो भी, यह तो विनिर्दिष्ट हो जाता है कि साहसी परिस्थितियों के दर्प में भी मनुष्य अपने हीटुमिषक मुगल के लिए स्त्री-पति का अलग-गैल चाहता है । स्त्री-मुग्ध का प्रेम ही कुटुम्ब-व्यवस्था का आधार है । आगे चलकर जादगों ने भी करतों काय में लिए कुटुम्ब-व्यवस्था का उदाहरण देना किया है, 'मते भी कल्याण-कारिणी सुखी स्त्री के हाँसे हुए भी राजनीय परिस्थितियों के अन्तर्गत ही और विषय उत्पन्न है वहीं अपने कुटुम्ब-व्यवस्था को धरने में विचार कर पया जाता है । किन्तु इस दृष्टि अन्तर्गत ही वह

तो प्रकट हो जाता है कि प्रत्येक कुटुम्ब में एकपत्नी-व्रत का पालन होना चाहिए। ऐसा न होने से कौटुम्बिक शान्ति और सुव्यवस्था नष्ट होजाती है। कृष्ण-चरित्र से हमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं मिलती। भले ही आध्यात्मिक अनुराग की ओट में शत-शत गोपियो के साथ प्रेम-क्रीडा का रहस्य समझाया जा सके, किन्तु वास्तविक जीवन में उसका कैसा प्रभाव पडता है, यह प्रत्येक समझदार जान सकता है। इसके बाद राम-चरित्र में हमें वे सभी गुण देख पडते हैं, जिनका होना प्रत्येक कुटुम्ब में आवश्यक है। किन्तु मैं यह बताना चाहता था कि हमारे प्राचीन हिन्दी-साहित्य में समान व्यवस्था का जो विषय है, उसमें मुख्यत दो भाव पाये जाते हैं। राम और कृष्ण के जीवन की असाधारणता एवं अलौकिकता का विचारन करते हुए हमें रामायण और कृष्ण-चरित्र—सूरसागर—में कुटुम्ब का मूलाधार 'बालक' समझ पडता है। दूसरी ओर हमारे साहित्य में प्रेम-कथाओं के रूप में ऐसे उदाहरण भरे पडे हैं, जिनमें कुटुम्ब का मूलाधार केवल स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रतीत होता है और उनके परिणामों से यह नहीं विदित होता कि 'बालक' का स्थान कुटुम्ब में सर्व-प्रधान है। हाँ, जायसी ने एक स्थान पर यह अवश्य दिखाने की चेष्टा की है कि पुत्र के चले जाने से सारा कुटुम्ब सूना जान पडता है, किन्तु रतनसेन के उद्देश्य के सामने वह बात छिप-सी जाती है। रतनसेन की माता उससे कहती है—

हिन्दी-साहित्य में सामाजिक इतिहास]

राजपाट दर परिगह तुम्हहीं सो उजियार ।
बैठि भोग रस मानहु कै न चलहु अँधियार ॥

x

x

x

रोजत माय न बहुरत धारा । रतन चला पर भा अँधियारा ॥
सूरमागर में भी हम पुत्र प्राप्ति के लिए न कों चिन्तित नहीं
पाते, यद्यपि कृष्ण के मिल जाने पर हम उनमें न क यशोप
का अश्रुपूर्व ताड़-भ्याग पाते हैं । इधर राम-चरित में हम दशरथ
को पुत्र के लिए अतिशय चिन्तित देखते हैं । वे पुत्र-प्राप्ति के
लिए यज्ञ और अतुष्टान करते हैं और भगवती हो जाने पर
अपने जीवन को धन्य मानते हैं । हमने एक निदर्श में यह
निरन्तरता है कि कुटुम्ब का मूलाधार दम्पति-जीवन है और पुत्र
उसका प्राभाविक परिणाम है दम्पति प्योर यह बात पानी नानी
है कि कुटुम्ब का सुख और उमरी नराना नरान की प्राप्ति में
है और यही उसका परमोद्देश्य है । शिशु धन्युत मन्त्रि
विता बौद्धिक जीवन का विकास होता नर । राय के अन्त
में दशरथ का जीवन समाप्त हो गेने को मर । पुत्रों ही पुत्र
धे, मर गेने और राय-वर्धन का नाम हो न जिना अन्त ।
पुत्र के अन्त में कुटुम्ब और गृह पुनरुत्थन प्रयोग हो गे ।
कृष्ण के विनाग में मराना समीप की अन्त-रूप इय भाव बर
किता मर धर रही है—

प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ।
 दुख-जल-निधि डूबी का सहारा कहाँ है ॥
 लस मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ ।
 वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है ॥

× × × ×

मुक्त विजित जरा का एक आधार जो है ।
 वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा ॥
 धन मुक्त निधनी का लोचनों का उँजाला ।
 सजल जलद की सी कातिवाला कहाँ है ॥

× × × ×

सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्घटो को ।
 बहु यजन करा के पूज के निजेरो को ॥
 यक सुत्रन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा ॥
 प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है ॥

—हरिऔध

× × × ×

यह ठीक है कि मस्कृत आयुर्वेद के आधार पर हिन्दी-साहित्य
 में भी ऐसे ग्रंथ लिखे गये हैं जिनमें सतान की उत्तमता
 पर जोर दिया गया है और उनके साधन भी बताये गये हैं ।

सभी साधनों के उल्लेख द्वारा आश्चर्य व अतिशयोक्ति का सहारा लिया है, परन्तु इसके अन्तर्गत सिद्धान्त वही बना रहता है।

वर-वधू के चुनाव में इतनी स्वतन्त्रता देकर कौटुम्बिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में अनेक मत हमारे साहित्य में प्रकट किये गये हैं। यद्यपि अभी तक पिता पुत्र और भाई-भाई के कर्तव्यों के विषयों में विवाद नहीं उपस्थित हुआ है, एक ओर लक्ष्मण-भरत तथा दूसरी ओर विभीषण-रावण जैसे भाई यद्यपि कर्तव्य के दो चित्र उपस्थित करते हैं और यद्यपि कर्तव्य की ओट में भरत कैकेयी की भर्त्सना कर सकते हैं, साथ ही हमारे कवि—

‘अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहि पितु वैन’

के रूप में पुत्र के विचार-पूर्वक कर्तव्य-पालन का आदेश दे देते हैं, फिर भी इन सबके सम्बन्ध में विशेष अधिकार-परिवर्तन हुआ नहीं पाया जाता। सारा झगडा है—दम्पति-जीवन की व्यवस्था पर। चाहे हम रामायण में चित्रित सीता, मदोदरी और सुलोचना की कथा पढ़ें और चाहे ऐतिहासिक रमणियों के सतीत्व और जौहर पर दृष्टि डालें, अथवा आज भी परम्परागत हिन्दू-गृहस्थी की व्यवस्था देखें, हमें सर्वत्र यही बात देर पडती है—

एकै धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पतिपद प्रेमा ॥

किन्तु अब इसका दूसरा पहलू भी हमारे सामने है। वर्तमान साहित्य में अङ्कित स्त्री-चरित्रों में हम स्त्रियों में आत्म-

समर्पण के भाव पहुँचा नहीं पाते हैं, उनमें ममता और ममानाधिकार की भावना व्याप्त हो रही है। वे भी अपने विचार रखती हैं और उन्हें भी अपने इष्ट-मित्रों से मिलाने और पत्र-व्यवहार करने का पूर्ण अधिकार है। पति महाराज को अपनी स्त्री के नाम आये हुए पत्रों को चुपचाप पढ़ने की वृत्ति नगण्य नहीं-होती चाहे और न उन्हें गुपचुप आकर अपनी मन्वयोंगिरी के पत्रों को पढ़ने की वृत्ति दिखानी चाहिए। मियों के आन्दोलन को यह एक मूलक मार है। इसकी भाव-बुद्धि की आलोचना हमारा ध्येय नहीं है। हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि विवाह के रूप में दम्पति-जीवन का एक आदर्श माना के रूप में हम पाते हैं और दूसरा आनकत के अनुभवों की सखता-प्रिया और ममता के रूप में भी।

[१]

राष्ट्र के समस्त प्रान्त में—विदेशी सौमित्र पर्यटकों के शक्ति से—शिक्षा का भाव बहुत अधिक है। प्राथमिकता में हमारे समाज में मन्वय-संभ्रम और पुन-वृद्धि-निवास के रूप में शिक्षा का क्षेत्र विविध पर दृग्गता मता है। यह शिक्षा मता और पुन के विषय में माधु शक्ति और मन्वय का भी विचार करनी है। इस शिक्षा-प्रणाली में शास्त्रों का पठन-पाठन भी है और कान्ठे, यान् शिक्षा आदि की शिक्षा भी। मन्वय-संभ्रम के पढ़ने का एक वृत्त को विचारों को मन्वय है, किन्तु मन्वय-संभ्रम का ही शिक्षा-

सस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' में कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राज-पुत्र और सुदामा थे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था में राव-रक का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिआयत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा में ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगें और अपना सर्वस्व भेटकर दे, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढन रघुराई । अल्प काल विद्या सब आई ॥

शरीर-सामर्थ्य को बढ़ाने का भी अभ्यास किया जाता है—

बधु सखा सँग लेहि बुलाई । वन मृगया नित खेलहिं जाई ॥

जरा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं ।

मातु पिता अग्यौ अनुसर्हीं ॥

जिहि विधि सुखी होहि पुरलोगा ।

करहि कृपानिधि सोइ सजोगा ॥

वेद-पुरान सुनहि मन लाई ।

आपु कहहि अनुजन्ह ममुभाई ॥

प्रातःकाल उठिकै रघुनाथा ।

मातु पिता गुरु नावहि माथा ॥

इत्यादि

बच्चों को कुटुम्ब में व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता पिता उनके खेल-कूद में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। सूर्यास्त के बालकृष्ण इन खेलों में गूँज भाग लेते हैं। माता-पिता उनके खेलों पर नज़र रखकर उन पर उचित प्रशंसा करते हैं। गृह में स्वर्ग-भुवन का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चों को स्वर्ग-भुवन पर माना पिता उमंगों में तैरने लगते हैं, भविय की आशाओं उनका चित्त प्रमत्त कर देती हैं।

किन्तु इधर दूसरा साहित्य भी है। इसमें धर्मशास्त्र शिक्षा का नग्न रूप चित्रित है। ज्ञानव्यापक या विचारशील लोग इनमें अप्रसन्न तेजस्वीन श्रीहीन नवयुवकों या दुर्बल स्वाम्य शिक्षा प्राप्ति के आरम्भ में यहाँ हुई उमंग या शिक्षा-समाप्ति के साथ ही महार, दुर्गति और अनाचार के भयंकर परिणाम, और अत्यन्त और पाप की भरसकता दरारों और भूयस्व अमान्य विद्वान् और आमात्या आदि मर्जी पाये जानेपर हिन्दो-साहित्य में पाये जाते हैं। इसमें यही निदर्शित किया है कि हमारे शिक्षण-समय या शिक्षण ही नहीं है, जसमें अनाचार मर्जी का मजा है और मर्जी पाया हमारा परिपूर्ण अतिरिक्त मजा दुर्गति का मजा है। अनाचार के शिक्षण के लिए यह अना-

सस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' में कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राज-पुत्र और सुदामा थे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था में राव-रू का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिश्तायत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा में ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगे और अपना सर्वस्व भेटकर दे, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढन रघुराई । अल्प काल विद्या सब आई ॥

शरीर-सामर्थ्य को बढ़ाने का भी अभ्यास किया जाता है—

बधु सरा सँग लेहि बुलाई । बन मृगया नित खेलहि जाई ॥

जरा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं ।

मातु पिता अग्यो अनुसरहीं ॥

जिहि विधि सुखी होहि पुरलोगा ।

करहि कृपानिधि सोइ सजोगा ॥

वेद-पुरान सुनहि । मन लाई ।

आपु कहहि अनुजन्ह ममुभाई ॥

प्रातःकाल उठिकै रघुनाथा ।

मातु पिता गुरु नावहि माथा ॥

इत्यादि

बच्चों को कुटुम्ब में व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता-पिता उनके खेल-कूद में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। सूरदास के बालकृष्ण इन खेलों में खूब भाग लेते हैं। माता-पिता उनके कर्मों पर दृष्टि रखकर उन पर उचित श्रद्धा रखते हैं। गृह में स्वर्ण-सुव्य का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चों को देख-देख कर माता-पिता उमगों में तैरने लगते हैं, भक्ति की आशाओं उनका चित्त प्रमत्त कर देती हैं।

किन्तु इधर दूसरा साहित्य भी है। इसमें वर्तमान शिक्षा का नग्न रूप चित्रित है। ब्रह्मचर्याश्रम का विनाश और उममे स्वयं तजर्जीन श्रीहीन नवयुवकों का दुर्गत स्वास्थ्य शिक्षा-प्राप्ति के आरम्भ में घटती हुई उमग का शिक्षा-समाप्ति के साथ ही महार दुर्गचार और अनाचार के भयंकर परिणाम, घोर अप-स्यव और ऋण की भयङ्करता, बेकारी और भ्रष्ट, अमानसिक कृत्य और आत्महत्या आदि सभी बातें वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पायी जाती हैं। इसमें यही निर्वर्ष निकलता है कि हमारी शिक्षा-संस्था का विनाश हो गया है। उममे अपनापन नहीं रह गया है और इसी कारण हमारा कौटुम्बिक जीवन कृत्रिम तथा दुर्गन्ध भरा हुआ है। समाजशास्त्र के विद्वानों के लिए यह अप-स्य-

सस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' में कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राज-पुत्र और सुदामा वे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था में राव-रक का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिश्तायत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा में ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगे और अपना सर्वस्व भेंटकर दे, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढन रघुराई । अल्प काल विद्या सब आई ॥

शरीर-सामर्थ्य को बढ़ाने का भी अभ्यास किया जाता है—

बधु सरा सँग लेहि बुलाई । बन मृगया नित खेलहि जाई ॥

जरा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सरा मँग भोजन करहीं ।

मातु पिता अग्यौ अनुसरहीं ॥

जिहि त्रिधि सुखी होहि पुरलोगा ।

करहि कृपानिधि सोइ सजोगा ॥

वेद-पुरान सुनहि मन लाई ।

आपु कहहि अनुजन्ह समुझाई ॥

प्रातःकाल उठिकै रघुनाथा ।

मातु पिता गुरु नावहि माया ॥

इत्यादि

बच्चों को कुटुम्ब में व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता पिता उनके खेता-कूद में पूरी मिलचस्पी लेते हैं। मूरगम के बालकृष्ण इन खेतों में गूत्र भाग लेते हैं। माता पिता उनके खेतों पर ऋषि स्वरूप उन पर ऋचित श्रमश रखते हैं। गृह में स्वर्ग-सुन्दर का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चों को देख-देख कर माता पिता उमंगों में तैरने लगते हैं; भविष्य की आशाओं उनका चित्त प्रमत्त कर लेती हैं।

किन्तु इधर दुस्तर साहित्य भी है। इसमें सर्वमान शिक्षा का नान रूप चित्रित है। ब्रह्मचर्याधम का विनाश और उमंगे उपस्र संजानी धीर्हीन ताम्रुवनों का दुर्घट ग्राम्य शिक्षा-शक्ति के आरम्भ में पड़ती हुई उमंग का विनाश-समाप्ति के साथ ही गदार, गुरागर और अनाचार के भयंकर परिणाम; पौर अश्र-ज्य और अज्ञ की भयंकरता, यरारी की शून्य समासदिक शून्य और आनात्या अति गर्भा यों परमान हिन्दी-साहित्य में पाया जाता है। इसमें यों निरर्थक शिक्षा है कि हमारी शिक्षा समाज का विनाश हो गया है जनों अनाचार नहीं रह गया है और हमें पारंगत हमारा वैश्विक और अज्ञान का दुस्तर का गया है। समाजशास्त्र के विद्वानों के लिए यह अज्ञ-

यन का विषय है। कौटुम्बिक व्यवस्था सम्बन्धी और अनेक वाते विस्तारभय के कारण यहाँ नहीं लिखी जा सकती।

[९]

अब आजीविका का प्रश्न आता है और उसी के साथ समाज में साम्पत्तिक व्यवस्था की समस्या भी उठती है। इस प्रश्न के उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ सम्बन्ध राज्य-व्यवस्था से है। साधारण वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तो—

वरनालम निजनिज धरम, निरत वेद पथ लोग ।

चलहि सदा पावहि सुख नहि भय शोक न रोग ॥

वस्तुतः वर्णाश्रम धर्म में श्रमविभाग (Division of labour) के सभी चिन्ह देख पड़ते हैं। आर्थिक इतिहास की दृष्टि से देखते हुए हमें इस वर्णव्यवस्था में श्रम की योग्यता (Efficiency of labour) बढ़ती ही देख पड़ती है। किन्तु चार वर्णों में इतिश्री नहीं हो जाती और उसके भीतर सैकड़ों उपजातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सूदन कवि का 'दिल्ली की लूट' का वर्णन एक दृश्य उपस्थित कर देता है, जिसमें अनेक जातियों और अगणित व्यवसायियों की अच्छी खासी मलक मिल जाती है।

श्रम की उपयोगिता पर हमारे साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है। अकर्मण्यता समाज के लिए अहितकर है। हमारे

चिरकालीन आदर्श राम और कृष्ण के जीवन निरन्तर उद्योग का उदाहरण उपस्थित करते हैं। उनका जीवन कठिनाइयों के ऊपर विजय-प्राप्ति का जीवन है। आत्मीयानी हिन्दी-साहित्य ही में हमें युद्धमय जीवन का आदर्श मिलता है। हमारे भूरा शिवाजी को चुप नहीं बैठने देते। जिस समाज का सुविधा या राज्य का अधिपति मतर्क हो, उद्योगी और स्वतंत्रशील हो, उस समाज में अकर्मण्यता और आलस्य की गल नहीं गनती। यदि समाज में राजनीतिक सुव्यवस्था हो, तो उसमें दक्षिणा को ध्यान नहीं मिलता। किन्तु जब राज्य में अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ती है तो सम्पूर्ण आर्थिक परिपूर्णता नष्ट हो जाती है। धर्म अपने कर्तव्य-प्राप्त में है और अधर्म उसको अक्षयता है। जिस समय जिल्लों की राज्य-व्यवस्था विगड़ती है तो क्या होगा, सुनिश्च—

तबि से अधर्मसु खनीति अति मय विपु पानी गति ।
 पुष्टि होदि अजपान से अक्षयि के पर अक्षय ॥

× × × × ×

देन देन तबि तभी तभी तभी तभी तभी ।
 अति अधर्म तबि तबि तबि तबि तबि ॥

× × × × ×

[१०]

हिन्दी का पुराना साहित्य सुभाषितों का अक्षय का संस्कार

रहा है। राजा को देवता का अश वताया गया है और प्रजा को राजा का अनुगामी होने का आदेश दिया गया है। उधर राजा भी प्रजा-हित की चिन्तना में निमग्न रहता है और वह राज्यशासन में प्रजा को साथ लेकर ही आगे बढ़ता है। राम-राज्य का आदर्श आज भी वैसा ही सुन्दर है जैसा वस्तुतः वह उस समय था। जब हम पढ़ते हैं—

रामराज बैठे त्रैलोका । हरपित भए गए सब सोका ।
वयरन कर काहूसन कोई । रामप्रताप विपमता खोई ॥

× × × ×

सब नर करहि परसपर प्रीती । चलहि स्वधर्म निरत श्रुतिरीती ॥
चारिहुचरन धरम जग माहीं । पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥
अल्प मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा । सब सुदर सबविरुजसररीरा ॥
नहि दरिद्र कोउ दुखीन दीना । नहि कोउ अबुधनलच्छनहीना ॥
सब निर्दभ धर्मरत धृती । नर अरु नारि चतुर सभ गुनी ॥

× × × ×

रामराज कर सुख सम्पदा । वरनि न सकै फनीस सारदा ॥
एक-नारि-त्रत-रत सभ भारी । ते मन धच क्रम पति हितकारी ॥

× × × ×

फूलहि फलहि सदा तरु कानन । रहहि एक सँग गज पचानन ॥
सस सम्पन्न सदा रह वग्नी । त्रेता भइ कृत जुग कै करनी ॥

तब इस राज्यव्यवस्था की अभिनाया यौन नहीं करना चाहता । हमारे राज्य का आदर्श भी तो यही है । किन्तु जब वर्तमान कवि की भारती यह कहती है—

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूट-टुक हो जायें ।
 विश्वम्भर की पोषक बीणा के मर तार मूक हो जायें ।
 शान्ति-रंग टूटे उस महा रुद्र का मिथामन यरण ।
 उसकी पोषक रामोच्छ्रवाम विश्व के प्राद्वय में पहलाए ।

नारा । नारा ॥ हा महानारा ॥ की प्रायः करी आँखि मुन जाण ।
 कवि, बुद्ध ऐसी तान सुनाओ, निममें क्या-सुधा मर जाण ॥

—तीन

तब हमें एक अन्तर्वेगता का बोध होता है तब हमें समझ पड़ता है कि हमारी गणराज्यवादी परिचय चाहता है । इस प्रदर्शन के माध्यम से हमें महानारा की विचित्र और अत्यन्त ही शान्ति की वासना की गई है । हमारे सामने ही निर्भयता की ऐसी महानारा जीवन्त हो जाती है । यह हमें सोच करती है । क्यों ? इसलिए कि हमारा देश था ही ही, तब ही—

कोई नहि पकरा मेरी हात ।

धोम कोटि रुद्र हीन विश्व में हा हा शेर करण ।
 यही महा महा शेर मारा मुन न कोई सुखदा ।

दीन बन्यौ इतसो उत डोलत टकरावत निज माथ ।

दिन दिन विपति बढत सुख छीजत देत कोऊ नहि माथ ॥ ३०

—हरिश्चन्द्र

इस परिवर्तन की साक्षी हमारा साहित्य पुकार-पुकारकर दे रहा है। पृथ्वीराज रासौ में चढ़ की लेखनी ने हमारे अस्त होते हुए सूर्य का चित्र अंकित किया है। उसी में जयचढ़ जैसे उल्लूको की काली करतूतो का भी दृश्य हमें देखने को मिलता है। हिन्दी-साहित्य का चारण काव्य ही हमें अपने गौरव की कहानी सुना रहा है।

[११]

हमारे साहित्य में राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध में 'राजा' और 'प्रजा' इन्हीं दो शब्दों का विशेषतः उल्लेख हुआ है। राज्य के 'नर नारि' 'पच्चों' के रूप में अवश्य प्रकट होते हैं, किन्तु वर्तमान साहित्य द्वारा प्रचारित राष्ट्रीयता की कल्पना उनमें कदाचित् नहीं देख पड़ती। हम आज जिस 'मातृभूमि' का दर्शन अपने साहित्य में करते हैं उसका वैसा ही अनुभव हम इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं करते। और आश्चर्य तो यह है कि हमारे पृथ्वीराज, शिवाजी और राणाप्रताप ने मातृभूमि की रक्षा ही में प्राण दिये हैं। हम वीरपूजा का आदर्श तो अपने साहित्य में पाते हैं, पर जिसके कारण इन वीरों ने प्राण दिये, उस मातृभूमि के प्रति जनसाधारण

में पूजा और गौरव का भाव नहीं पाते । जिन तुलसी और मूर ने राम कृष्ण के गुणगान द्वारा हिन्दू जाति में जीवन बनाये रक्खा, उनमें क्या इस मातृभूमि का प्रेम न था ? या क्यों नहीं, किन्तु उनका भारत श्रयोप्या और वृन्दावन ही में था । आन हम अपने को भारतवर्सी रहकर क्या दिखाना चाहते हैं ? यही न कि हम एक ही राष्ट्र के पुत्र हैं—हम सब एक हैं ? तब क्या तुलसी की श्रयोप्या और मूर के वृन्दावन में बर्ती भाव नहीं पैदा होते ? जरा ध्यान देकर देखने की आवश्यकता है । भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य का नाश हो चुका था । भारतीय प्रजा विभिन्न मातृदलीक राजाओं के बन्धन में पड़ गई थी । ऐसी दशा में यदि परार्थीता के पाश में पुष्प हाकर तन्माधारण में एकता स्थापित हो सकती थी तो वही श्रयोप्या और वृन्दावन ही में । राज्यमत्ता विद्वत्त मिलते हैं जाले पर भी धार्मिक मत्ता की स्वायत्तता नहीं बन सकती थी । यह एक मन्त्र भी विद्वाने हुए हिन्दू-समाज को एकता के बन्धन में बंधी बंधी थी । इस धार्मिक समाज के पंथभंग । प्रत्येक-एक और श्रयोप्या में ही था । अतएव, यह ठीक है कि समाज में साहित्य में मातृभूमि की वन्दना आधुनिक समय में नहीं की जाती थी, क्योंकि 'वृन्दावन नाम में ही समाज में, अतएव समाज में ही होने लगी थी । यही कारण है कि मूर और तुलसी के परिवर्तनी कवियों ने भी भारत-वृन्दावन के पद-पत्रक भारतभूमि के

वन्दना की ओर ध्यान न दिया और वृन्दावन ही की चरण-रज में पड़े लोटते रहे । जहाँ रहकर और जिस भूमि की मर्यादा में हम अपने हिन्दूत्व और उसके साथ अपने गौरव की रक्षा कर सके, वही स्थान हमारे लिए पूज्य है—वन्दनीय है । देखिए, अवधपुरी के लिए रामचन्द्र के मुख से तुलसीदासजी ने कैसे उद्गार प्रकट कराए हैं—

जद्यपि सब वैकुण्ठ बराना । वेद पुरान विदित जग जाना ॥
 अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसग जानै कोउ कोऊ ॥
 जनमभूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥

× × × ×

उधर कृष्ण द्वारका में बैठकर भी यही कहते हैं—

ऊधो ! मोहि ब्रज विसरत नाहीं ।

आज जिस प्रकार 'भारतभूमि' की अर्चना में हम मुक्ति की कामना करते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारे तत्कालीन आदर्श के अनुसार यह था कि—

मुक्ति कहै गोपाल सौं, मेरी मुक्ति बताय ।

ब्रज-रज उडि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त है जाय ॥

जितना अधिक पूज्य भाव आज मातृभूमि के लिए प्रकट किया जाता है, वृन्दावन के नाम में भी हिन्दू-समाज की वही

साहित्य का निर्माण करनेवाले मस्तिष्क इतने थोड़े और गंठे हो जाते हैं कि उनमें 'स्व'-भावना का बीज तक नहीं रहता। रचनात्मक साहित्य यथा उपन्यास आदि ग्रंथों में इस प्रवृत्ति का पना सुरन्त तग जाता है। इतिहासकार घटनाओं को आचार पर अपनी बातें लिखता है; परन्तु कान्य और उपन्यास तो सर्वथा मस्तिष्क की उपज है। घटनाएँ समाज ही में तीं जाती हैं, किन्तु विचारों के बन्ध इहीं के होते हैं। अतएव इस प्रकार के साहित्य की प्रगति में समाजके और समन्वय उमें पथ ध्रष्ट होने में बचाने के लिए अग्रसर होना चाहिये।

जब साहित्य का इस दृष्टि में अध्ययन किया जाता है तब हमें उसका एक नया ही स्वरूप देख पड़ता है। अपना स्वरूप समझ लेने और अपनी शक्ति की बढ़ता जात होने पर ही हम दूसरों के सम्मुख जा सकते हैं। मैंने इस लेख में मध्य में समाज के इतिहास के विषय पर कुछ बातें लिखी हैं, जिनमें यह भी प्रकट हो सकता है कि हमारी साहित्यिक प्रगति किसी अर्थ में पीछे नहीं गयी है। परन्तु जिस युग में आर्य और मुस्लिम संस्कृति का सम्पर्क हो रहा था, तब समस्त धार्मिक व्यवस्था का लक्ष्य जयभाषागत के हिन्दी-साहित्य द्वारा ही हुआ था। हिन्दी साहित्य में भारतीय संस्कृति और आर्यों की रक्षा में बहुत अधिक भाग लिया है। आज भी यह पं देखनी है। अतएव युग-योग द्वारा ही यह पक्ष अत्यन्त बढ़ेगा।

है, उसमें भक्ति-काव्य और त्याग वैराग्य-सम्बन्धी साहित्य की अभिवृद्धि होती है। राज्य-सत्ता के नाश के साथ पराधीनता के रूप में साहित्य के इस स्वरूप का कारण भी वह खोज सकता है। इसके बाद शृंगार-साहित्य के मैदान में आकर दोनों धाराओं का सगम हो जाता है, भक्ति और शृंगार तो गंगा-यमुना की भाँति लहराते रहते हैं, किन्तु सन्तों का साहित्य सरस्वती की भाँति लुप्त हो जाता है। फिर, इस क्षेत्र से गद्य के रूप में पुनः साहित्य दो मार्गों से, किन्तु एक ही इष्ट की ओर, बढ़ता है और सम्भव है कि स्वदेश-भक्ति और स्वाधीनता के गायन के पश्चात् वह हर हर करता हुआ विश्व-संगीत के अनन्त महासागर में मिल जाय। साहित्य के इस रूप में हम जीवन के चिन्ह पाते हैं।

साहित्य द्वारा समाज के इतिहास दर्शन में एक बात और देखी जानी चाहिए। और वह है—जातीय सस्कृति किन्वा सभ्यता पर प्रभाव। हमारे ग्रंथों में जिन विचारों का संग्रह हो रहा है, वे कैसे हैं, हमारे सामाजिक और राजनीतिक आदर्श हमें किस ओर ले जा रहे हैं, हम अपनी सस्कृति की रक्षा कर रहे हैं या उसे मिटा रहे हैं, इन्हीं बातों की ओर ध्यान जाना चाहिए। जो जातियाँ अपनी सस्कृति से च्युत हो जाती हैं, जो पराधीनता के चन्वन में पडकर गुलाम बन जाती हैं, उनके साहित्य में उनके विनाश की कथा अंकित रहती है। और यह तभी होता है जब

साहित्य का निर्माण करनेवाले मस्तिष्क इतने थोड़े और गटे हो जाते हैं कि उनमें 'स्व'-भावना का बीज तक नहीं रहता। रचनात्मक साहित्य यथा उपन्यास आदि प्रथम में इस प्रवृत्ति का पता तुरन्त लग जाता है। इतिहासकार घटनाओं को के आधार पर अपनी बातें लिखता है, परन्तु काव्य और उपन्यास तो सदैव मस्तिष्क की उपज है। घटनाएँ समाज ही से ली जाती हैं, किन्तु विचारों के बग्न उन्हीं के होते हैं। अतएव इस प्रकार के साहित्य की प्रगति को समझने और समझकर उसे पथ भ्रष्ट होने से बचाने के लिए अप्रमत्त होना चाहिए।

जब साहित्य का इस दृष्टि में अध्ययन किया जाता है तब हमें उसका एक नया ही स्वरूप देख पड़ता है। अपना स्वरूप समझ लेने और अपनी शक्ति की श्रुति जान लाने पर ही हम हमसे सन्तुष्ट जा सकते हैं। मने इस लेख में विशेष में समाज के इतिहास के जिन पहलुओं का विमर्श कराया है, उनमें यह तो प्रष्ट हो सकता है कि हमारी साहित्यिक प्रगति किमी अवनति में पीछे नहीं रही है। यद्यपि जिस युग में आर्य और द्रविड सम्प्रदाय का सम्पर्क हो रहा था तब मध्य प्रायिक स्वरूप का दर्शन जससाधारण को द्वितीय-यात्रा द्वारा ही हुआ था। द्वितीय-यात्रा ने भारतीय सभ्यता और आस्था की रक्षा में बहुत अधिक भाग लिया है। आर्य भी इस पीछे नहीं हैं। मने ही पुरातन युगमें से पढ़कर आर्यों की सभ्यता का स्वरूप

लिए आज भी नायक-नायिकाओं के रूप में राधाकृष्ण के दर्शन करे, किन्तु जागृत भारत तो इसके लिए तैयार नहीं है। उसे तो इस समय महाभारत के कृष्ण की आवश्यकता है। आज किसी रूप-गर्विता रमणी के फेर में फकीर बनने का अवसर नहीं है, आज तो केसरिया बाना पहिनकर आत्म-समर्पण की आवश्यकता है।

तुलसी और सूर ने अपने समय में वही काम किया जो आज हमें करना चाहिए। देशभक्ति किसी जोश का नाम नहीं है—ग्रह है अपनी सभ्यता, जाति और राष्ट्र को अमर बनाने में। क्या तुलसीदास की रामायण ने हिन्दी-साहित्य और उसके साथ हिन्दू जाति को गौरव प्रदान नहीं किया? क्या उनकी रामायण द्वारा भारतीय सस्कृति की रक्षा नहीं हुई? यदि हुई तो उन्हें देशभक्तों में शिरोमणि कहना चाहिए। देशभक्ति मस्तिष्क में होती है, शरीर में नहीं, वह प्रेम में रहती है, घृणा में नहीं, उसके द्वारा निर्माण होता है, विनाश नहीं।

देशभक्ति किम्बा राष्ट्रीयता के लिए राजनीतिज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है। सभी राजनीतिज्ञ देशभक्त नहीं हुआ करते। बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे ने अपनी (The heart of Aiyivart) नामक पुस्तक में लिखा है कि जो व्यक्ति राजनीतिज्ञ नहीं है, उसका देशभक्त होना कहीं अधिक महत्व का है। उदाहरण के लिए रवीन्द्र ही को लीजिए, वे कनि

कानों में जान पड़ता है, पीडा और अध पतन के हाहाकार की ध्वनि नहीं पहुँची है। एक प्रकार के कवि नायिकाओं की रोज में लगे हैं, तो दूसरे अनन्त की रोज में दौड़ पड़े हैं। जो जाति अपनी विगत स्वाधीनता को नहीं रोज सकती, उसके सपूत वीणा के टूटे तार लेकर विश्व-रहस्य को रोजने जात हैं। हमारे साहित्य की खिलती हुई प्रतिभा आँसुओं ही के रूप में वहीं जा रही है। एक ओर विज्ञान उन्नति कर रहा है, दूसरी ओर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध स्वातन्त्र्य एवम साम्यवाद का संघर्ष हो रहा है, और डगर हमारे कवि—

‘घने लहरे रेशम के बाल,

धरा है सिर में मैंने देवि ।

तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार’

—पत

× × ×

मे नारी-रूप धरकर क्रीडा करना चाहते हैं। इन्हें यह नहीं सूझता कि हम कहाँ हैं और ससृति का कोलाहल हमें किस ओर बुला रहा है ।

—रमाशंकर शुक्ल

कवीर : सिद्धान्त और रहस्यवाद

धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए महान् आदर्शों समय-समय पर जन्म लिया करती हैं। कवीर का जन्म भी हमारे प्रतिपाद्य-स्वरूप नहीं था। मर्यादा-भंग की क्षमता, कर्मपरमा से सर्वत्र उपासीय करनेवाली हिन्दू जाति अर्थात् आचार्य-प्रवृत्ति का दृष्टांत के कारण अर्थात् मर्यादा-भंग का उपाय के विनाश के बाद धर्म में सर्वत्र सुखी थी। मुसलमानों के उद्भव की शक्ति दृष्टांत-विन्दू-कल्प में अर्थात् दृष्टांत-उपाय-सर्वत्र की शक्ति के उद्भव, अर्थात् धर्म-उपाय-सर्वत्र की शक्ति के उद्भव की शक्ति थी। अर्थात् धर्म के उद्भव के उपाय-सर्वत्र के

लिए विलीन हो गई। देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया। मदिरो के स्थान पर मसजिदों की स्थापना की गई, देव-मूर्तियों और पूज्य पुरुषों का अपमान होने लगा। अपने नौ तिहालों की निर्दयतापूर्ण मृत्यु, अपनी सम्पत्ति पर विदेशियों का अधिकार, धर्म पर कुठाराघात, शासकों की वेदनापूर्ण आज़ाएँ—हिन्दू जाति ने उस समय क्या नहीं देखा ! वैराग्य की इस चरमसीमा पर पहुँचकर अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान को शरण लेने के अतिरिक्त सान्त्वना का और दूसरा मार्ग हो ही क्या सकता था ? काल के प्रतिनिधि कवियों ने जनता के हृदय को सँभालने के लिए भक्ति का एक नया मार्ग निकाला। शासक और शासितों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए और “राम-रहीम” को एक करने के अभिप्राय से उन्होंने दोनों के सामने ईश्वर के प्रेम-स्वरूप को रखा और भेदभाव हटाने का प्रयत्न किया। कबीर इस समय के प्रधान कवियों और ममाज-सुधारकों में से थे। प्रश्न यह उठता है कि कबीर के कौन से सिद्धान्त थे, जिनके कारण उनका प्रभाव जनता पर इतना अधिक पड़ा। इसका उत्तर हम सङ्क्षेप में देने का प्रयास करते हैं।

कबीर-सम्प्रदाय का सबसे बड़ा सिद्धान्त ईश्वर की एकात्म-वादिता है। वही अखिल विश्व का निर्माणकर्ता, अनादि और अनन्त है। कबीर का ईश्वर सर्वधर्मगत है, वह

विश्व व्यापक है और लड्डू-दलवा खानेवाले ईश्वर से मर्त्या भिन्न है। उसका कोई निर्दिष्ट रूप नहीं, अतएव पत्थर की मूर्ति बनाकर उसे भोग लगाना कबीर के विचार में केवल हास्यास्पद है। कबीर ने अपने 'ईश्वर' को 'राम', 'हरि', 'शाङ्गपाणि', 'यादवराय', 'गोपाल', 'साहज', 'राउर', 'खसम' आदि नामों से सम्बोधित किया है, परन्तु इन सब शब्दों में भी बहुत कुछ विचिन्ता है। इनमें से पहले पाँच नाम साम्प्रदायिक और गैर सात्त्विक दृष्टि से प्रयोग में लाये गये हैं। जनश्रुति है कि कबीर ने वैष्णवसम्प्रदाय के परमोद्धारक श्रीस्वामी रामानन्द से दीक्षा ली थी। अतएव वैष्णवसम्प्रदाय के नाम 'राम', 'गोपाल', 'हरि' आदि या 'परम-तत्त्व' के स्मरण करने के लिए प्रयोग करना उनके लिए स्वाभाविक था। परन्तु उन्होंने स्पष्टतया प्रकट कर दिया है कि उनके 'राम', स्वामी रामानन्द के दासरायी राम से मर्त्या भिन्न है। कबीर का 'राम' से अभिप्राय तिर्गुण ब्रह्म से है। उन्होंने कहा भी है—

(१) "तिर्गुण राम, तिर्गुणराज जगहू रे भाई ।"

(२) "शरण गुन तिहुगुण बग्यादा,
राजा न का तम है जगता ॥"

(३) "जाति राम के नाम कहिने कितहू के न कसब
रख्या ॥"

(४) “हृदया वसे तेहि राम न जाना ।

पूरव दिसा हम गति होई ।

है ममीप सधि वूमै कोई ॥

एरे मूरख नादाना, तैने हरदम रामहि न जाना ॥”

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के ‘राम’ में कोई विशेषता है। उनका ‘राम’ हृदय में बसनेवाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक-विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना में भी उन्हें स्थूलभावना का आभास होता है और इसी लिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों से ऊपर मानकर वह कहते हैं—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निदा ।

ता नूर थैं सब जग कीया कोन भला कौन मदा ॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का ‘नूर’ रहस्यवादियों के ‘अनन्त प्रकाश’ का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था, इसका विचार हम आगे करेंगे। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन पक्तियों में कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार में

निराकार परमब्रह्म की मत्ता निर्विवाद है, अतः मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। ऐसी पूजा करनेवाले उनकी दृष्टि में डोंगी हैं, वनं हृण हैं और ८५ ताम्र योनियों में भटकते हृण नरक की सेवा करनेवाले हैं। इन्हीं निम्न बड़े व्यगपूर्ण राज्यों में यह कहते हैं—

“पाहन पूजे एहि मिते तो मे पूजू पाग”

करीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

“बड़े पर्यार नमा ताई भगति गुणति गति पाई रे।”

नमना, यात्रा कर्मका भक्ति मत्ता ही उन तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। येनी और उपनिषद् के पद्यों में ही कोई पठित नहीं हो जात। पागार में वदित बहाँ है जिससे देम के लई अकार का पाठ पढ़ा हो। शान्ति अविमान में रोगा गहो के पाठानु माता के अकरर में भटरगा रिना है, परन्तु भक्त सिद्धिमान लोपर जीय परमाना तक पहुँच जात है। करीर का भक्ति-मार्ग मनुष्यमार्ग में निग है। 'समुत्त मार्ग राम अथवा एय' का असागना का आरग देता है और करीर का भक्ति-मार्ग अस्तित्वा मपना द्वारा ही इनकर पहुँचने का अरोगा करत है। सुगना और गुर के लय करीर अरु ति मादुचन और अविमान के पाठ पर लोकरर

‘की मनांहर मूर्ति’ प्रतिष्ठित करनेवाले नहीं थे। वह सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे-सूखे उपदेशों द्वारा भक्ति-मार्ग की व्यवस्था करना चाहते थे। इसी कारण कबीर में वह अनेक-रूपता (imagery) एव मधुरता नहीं है जो जायसी, सूर और तुलसी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। जिस प्रकार किसान गर्मियों में वर्षा का नहीं, वरन् ताप का भूखा होता है, उन्नी तरह कबीर ‘चरम आनन्द’ प्राप्त करने के लिए कष्ट-साधना के भूखे थे। सूर और तुलसी की तरह उनका लक्ष्य एव शस्त्र मानव-हृदय नहीं है। उनमें वह भावुकता और सहृदयता नहीं है जो परोक्ष सत्ता की ओर सकेत करनेवाले रमणीय दृश्यों का चित्र अंकित कर सके, परन्तु कबीर में भगवान की भावना का ‘माधुर्य्य भाव’ अवश्य विद्यमान है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है—

“हरि मोर पीड मैं राम की बहुरिया।”

‘राम की बहुरिया’ कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कटा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है और कभी विरहवेदना का अनुभव करती है।

कबीर की शिक्षा है आत्म ज्ञान प्राप्त करना, जो आत्मा के आनन्द के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। यही माया सत्त्वगुण की अप्रधानता के कारण अविद्या-रूप को ग्रहण कर लेती है। इसी कारण

जीवात्मा चौगसी लाम्य योनियो मे भ्रमण किया करता है। अज्ञान-वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनन्द आदि को जड़ (विषयों) का धर्म मान लेता है, अर्थात् यह सुख सुकं विषयों मे मिला है, ऐसा जान लेता है। इमीतिण आनन्दस्वरूप होते हुए भी वह अपार दुस्ख-सागर में डूबा रहता है। उसे इस यथन मे मुक्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, सोपाधिक और निरुपाधिक। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, इमनिण अपने स्वरूप को पहचानने के लिए निरुपाधिक ज्ञान आवश्यक है। आत्म-आपानार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। “शुद्धे ज्ञानात्प्रमुक्ति”।

पथोर कहते हैं कि यह नाम रूपात्मक इन्द्र जो धर्म-व्यंगुषा को निर्वाह देता है, जग का पदा है, निम्ने बाहर भी प्रक-पारि है और भीतर भी। पादा रूप का नाश होने पर निम्न प्रक-पादा और अदर का जग भिन्न-रूप हो जाता है उसी प्रकार माया का पर्दा धीरे मे उठ जाने पर, अन्तर का रूप वास्तव्य प्रक में मत्ता जाता है—

जग मे कुम्, कुम् मे जग है यादकि भीतर पारो ।

क्या कुम् जग जगति मे ताता पदु लक्ष कधी निरारो ॥

प्रकार की अविद्यता पर भी क शेर ने कटुण और दिवा है ।

जन्म का अर्थ है कि मे जग पारो के कटुण को लक्ष है ।

निम्न प्रकार प्रभाव होने ही मारे विज्ञान हो जाते हैं, यही प्रक-

काल आने पर यह जीवन-लीला भी आँखों के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। कबीर कहते हैं—

ऐसा यह ससार है जस सेमर का फूल ।

दिन दस के व्योहार मे भूँठे रग न भूल ॥ १२२

मेवर सुवना सेइया हुई ढेंडी की आस,

ढेंडी फूटि चटाक दे सुवना चला उदास ॥ तात्पर्य

माया में पडा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता है, इसलिए वह परमात्मा तक नहीं पहुँच पाता। माया ममता की यात्री है। इसीलिए ज्ञानी माया का त्याग आवश्यक बताते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद-मत्सर माया के पाँच पुत्र हैं, जो मदैव मनुष्य के अध पतन का कारण होते हैं। इसी से तत्त्वार्थियों को सावधान करने के लिए वह कहते हैं—

पच चोर गढ मम्ता, गढ लूटैं दिवस अरु सभा ।

जो गढपति पुहकम होई, तौ लूटि सकै न कोई ॥

अतएव भर्त्सना देते हुए कबीर ने कहा है—

जागु पियारी अब क्या सोवे ।

रैन गई दिन काहे को खोवे ॥

जिन जागा तिन मानिक पाया, तै बैरी सब सोय गँवाया ।
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी, कवहुँ न पिय की सेज सँवारी ।
तै बौरी बौरापन कीन्हा, भर जोवन पिय अपन न चीन्हा ।

जागु देखिय पिय मेजन तेरे, नोहि छाटि उठि गये मरेरे ।
कह कबीर मोटे धुन जागे, मन्त्र-ज्ञान उ अन्तर लागे ।

इस अज्ञानको हटाने के लिए कबीर ने आम-विचार का निर्देश किया है। यह आम-विचार मनुष्य के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। अतः कबीर ने मनुष्य के सम्बन्ध की मुक्त कठ मे प्रशंसा की है। इसका मत है कि मनुष्य के सम्बन्ध में प्रायः ही गुरुय मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अथवा नहीं—

(१) "मन्तो भक्ति मनुष्य आती।"

(२) हम भी पावन पुण्य होने का संकल्प ।

मनुष्य की श्रमण भक्ति मन्त्र के उद्देश्य से ॥

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। कबीर के अनुसार गुरु का पर किये केवल पुण्य ही नहीं मिल सकता। यह ईश्वर ही ही गुरु माना है। केवल "मन्त्र" महात्मायें हमारी आत्मा अभोगति के पुनः होने पर ही ही ही का अनुभव करती हैं ।

हरि विद्म नरम—विदुषी गता ।

मन्त्र-ज्ञान मन्त्र-ज्ञान ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही ॥

मन्त्र-ज्ञान ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही ॥

मन्त्र-ज्ञान ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही ॥

ज्ञानी, गुनी, सूर, कवि, दाता, ई जो कहहि बड हमहीं ।

जहँड से उपजे तहँड समाने, छूटि गयल सभ तवहीं ॥

वायें दहिने तजो विकारां, निजु कै हरिपद गहिया ।

कहँहि कविर गूगे गुर खाया, पूछे से का कहिया ॥

कवीर गुरु और शिष्य के शारीरिक साक्षात्कार के पक्षपाती नहीं हैं। उनकी धारणा है कि मानसिक सम्बन्ध द्वारा भी शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है।

कवीर गुरु वसैं बनारसी, सिप समदर तीर ।

विसरया नहीं वीसरै, जे गुण होई सरौर ॥

सभव है, रामानन्द के साथ भी उनका यही मानस-गुरु सम्बन्ध रहा हो, क्योंकि कुछ लोगों के मतानुसार कवीर शैख तकी के शिष्य प्रमाणित होते हैं।

मनुष्य के विषय में भी कवीर के विचार अत्यन्त उदार है। भिन्न-भिन्न धर्म-मतावलम्बी सब समान हैं। चाडाल और ब्राह्मण में कर्म का भेद है। वर्ण विभाग समाज की कृति का फल है। ईश्वर ने किसी को गरीब-श्रमीर नहीं बनाया। पैदा होने के समय सब की दशा एक-सी होती है। उन्नति और अवनति केवल व्यक्तिगत बुद्धि एवं प्रभा का परिणाम है।

कवीर कर्मकाण्ड को आडम्बर समझते थे। पन्के हिदू-मुसलमान की तरह माला जपने में कवीर को तनिक भी विश्वास न था। ऐसे मनुष्यों को वह शिक्षा देते हैं—

“किं मनुष्यो, हाथ को माला को छोड़कर मन की माता फेरो ।”

करीर केवल मन्व्य के उपामक थे। उन्होंने किसी नामधारी बधन में अपने को नहीं बाँधा। मुसलमानों के रोज़ा, नमाज़, ताज़िहनागै और हिंदुओं के धाढ़, एकाग्रता, तीर्थ, व्रत आदि सभी की उन्होंने भंगपेट निगा की है। हिन्दुओं का जाति-पाति, पुश्चाष्टन, ग्यान-भान के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानों आदि कराने का उन्होंने घोर विरोध किया है। पितरा का ज्ञान में तर्क करना हिन्दुओं में एक गायरग्य बात है, परन्तु करीर का इन पर भी विरोध न था। एक दिन जब वह नरी भग्नात पर रह थे, उन्होंने मुद्द हिन्दुओं को तर्क करने लगे। उन्हें लोपकर उन्होंने भी परिचय की और तब जाना आरम्भ कर लिया। उन हिन्दुओं में से एक ने यह देगदर पूछा—“तुम्हारे पुत्रादे ! यह तुम्हारा घर क्या है ?”

करीर ने उत्तर दिया—“मैं एक गैर को भीषण रहा हूँ, जो यहाँ से दूर है।”

इस पर सब लोग हँसने लगे करीर को पूर्ण रूप से लगे। करीर ने कहा—“मुझे तुम्हारे घर पर घूमने दो, मैं तुम्हारे घर में ही रहूँगा।”

कवीर कहते हैं—दाढी-मूँछ मुडाने से क्या होता है ? यदि मुडाना है तो मन को मुडाओ, अपनी वासनाओं के ऊपर राज्य करो । उसी के अदर शैतान अपना प्रभुत्व जमाये बैठा है ।

माला तिलक लगाइकै, भक्ति न आई हाथ ।

दाढी मूँछ मुडाइकै, चलै दुनी कै साथ ॥

कवीर उन ज्ञानियों में से नहीं थे, जो हाथ-पावें समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं । वह परिश्रम का रहस्य जानते थे और अपनी जीविका के लिए अपने ही हाथ का आसरा रखते थे । थोड़े में ही सतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है । धन-धरती जोड़ना उनकी वृत्ति के प्रिकृद्द था । उन्होंने कहा भी है—

काहे कू भीत बनाऊ टाटी, का जाणू कहँ परिहै माटी ।

काहे को मदिर महल चिनाऊ, मूवाँ पोछै घडी एक रहन न पाऊ ॥

काहे को छाऊ ऊच उचेरा, साढे तीन हाथ घर मेरा ।

कहै कवीर नर गरव न कीजै, जेता तन तैती मुई लीजै ॥

कवीर ने कथनी और करनी का भी खूब विवेचन किया है ।

वह कहते हैं—ससार में कहनेवाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु

उसको करनेवाला कोई विरला ही मिलता है । कहना साँड

के समान मीठा लगता है और करना विष के समान कड़वा,

परन्तु कर्म करनेवालों को विष भी अमृत हो जाता है ।

कबीर के विषय में हमारा प्रश्न उठता है—हिन्दी-साहित्य में कवि कबीर का स्थान कौन सा है। उत्तर में निवेदन है कि कबीर की कविता का सम्बन्ध रहस्यवाद में है। अतएव बिना यह समझे हुए कि रहस्यवाद क्या है, हम उसका निर्णय नहीं कर सकते। हम यह मानते हैं कि कबीर के वाच्य में रोचकता का हाम है उनकी भाषा अस्मरु है, उनमें शरीरान्तर पदों का ही बाहुल्य है और वे पद भी अभिव्यक्त सिंघारशास्त्र के विरामा के अनुसार नहीं हैं, परन्तु कबीर में महान कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं। उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, आंज है, गाम्भीर्य है। उनके वाच्य में उनका हृदय प्रतिक्रिया है, अपना निजी कवयता का जांता-जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है। उनके वाच्य में काम-लोकान्त पनपने का अभाव अरुद्य है। यदि आप्त्तानिर्गता के भौतिकता से श्रेष्ठ उद्धारण जाय, तो कबीर का ग्यात हिन्दी-साहित्य-काल में यही है, जो गुरु और गुं गों का है। कबीर यदि रहस्यवादियों की दृष्टि में देखा जाय, तो यह निर्विवाद है कि कबीर का स्थान जायसी से भी अग्रिम होगा है।

अब हम यह निर्णय का प्रस्ताव करते हैं कि कबीर का स्थान हिन्दी-साहित्य में कबीर का रहस्यवाद विषय प्रकाश का है।

इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कबीर का रहस्यवाद हीन प्रकाश का है। इसका अर्थ यह है कि कबीर का रहस्यवाद हीन प्रकाश का है। इसका अर्थ यह है कि कबीर का रहस्यवाद हीन प्रकाश का है।

का ज्ञान रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य है। अनन्त के सम्पर्क में आने तथा उस "भक्ता" (Reality) को अपने इन नगे छोटे-छोटे हाथों से पकड़ लेने की अभिलाषा उत्पन्न होना ही रहस्यवाद की सीढ़ी पर पैर रखना है। रूपहीन-चित्तन (Formless Speculation) द्वारा अपनी आत्मा की एकान्तता में एक दैविक शक्ति के आभास का अनुभव करना ही रहस्यवाद का रहस्य है। रहस्यवाद कोई मोल ली जानेवाली मोतियों की लड़ी नहीं है। यह वह पापाण-क्षेत्र है, जहाँ थोड़ा सा खोदने पर ही भ्रमात्मक पत्थर निकलने लगते हैं और जहाँ सच्चे हीरे पाने के लिए खोदनेवाले को बड़े परिश्रम एवं धैर्य की आवश्यकता होती है। जीवन के पूर्णता (Life in its wholeness) सम्पर्क में आने पर ही हम उसके भाव तथा तात्पर्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जीवन के आदि सगीत का अनुभव कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह तभी सम्भव है जब हम अपने भावों और विचारों को सभिन्न कर 'वास्तविकता' (Reality) के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेवाले मनुष्यों के अनुभवों का सहारा लें। ये कवि हैं, सिद्ध हैं, भविष्यवादी हैं। ये वे लोग हैं जो अपने दिव्य चक्षुओं से उस "अनन्त-प्रकाश" का दर्शन कर चुके हैं। ये विकारहीन विचारों के प्रभु हैं, और अपनी अद्भुत, आत्मिक एवं मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकासके कारण उस अतर्ज्ञान के अधिपति हैं, जो भावात्मक वस्तुओं तक पहुँचने का एकमात्र साधन है।

रहस्यवादी का विषय कुछ इस प्रकार होता है —

मनुष्य किन्ती वस्तु की सोज में घूमा फिरता है नान्मा उसे एक तेजहोन ज्योति (Dazzling Vision) का आभास मिलता है। उसे प्रतीत होता है कि ज्ञान और बुद्धि दोनों उसकी प्रतीना पर रहे हैं। अब, यह वाचन की चान्निच्छाओं को मूल जाता है और मानसिक क्षेत्र को मूल प्रवृत्तियों को अपनी ओर खींच ले जाती हैं। साधारण भाव में पहला होगा कि वह 'मो' जाता है। उसी प्राणा उस 'अन्न ज्योति' से इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसने अपने पूर्वजन्म की गति भी मृति नहीं रहती। निज समय ज्ञानों इस दशा को पहुँच जाता है, अब मनुष्य वह परका रहस्यवादी हो जाता है। उस समय वह का होता उसे यद्वाक्य के भाव का स्मरण मिलता है अन्तर्बैठने को परी उसे कुछ ज्ञान का स्वरूप जान पता है और वह पर के वास्तविकता पर के रूप में अपने मानने प्रवृत्त होता है। क्योंकि वे इसी रहस्य को देखते पर भाव पर पढ़ा है—

पानी ज्ञान देखि हरि मखिज दोनन पाव ।

जम करे ही कृष्ण ही परेज पर भाव ॥

साधारण ज्ञानों जिनके लोग मोक्षार्थी को देखते हैं वे देखते हैं पर देखि मखिज दोनन पाव । जम करे ही कृष्ण ही परेज पर भाव ॥

देना कौन नहीं देखता । परन्तु कवीर जैसे रहस्यवादी ही उसमें ससार की अनित्यता का आभास पाकर कह सकते हैं—

माली आवत देखि कैं कलियाँ करें पुकारि ।

खिली-खिली तो चुन लई अब काल्हि हमारी वारि ॥

कवीर ब्रह्म के जिज्ञासू हैं । जिज्ञासा का सम्बन्ध आत्म-ज्ञान से है । “जब जिज्ञासू ज्ञानी की कोटि पर पहुँचकर कवि होना चाहता है, तो स्वभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर मुक्त पडता है । चित्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता-क्षेत्र में आकर भावुकता और कल्पना का आधार पकडकर इस रहस्यवाद का रूप पकड लेता है ।” इसी समय उसकी दृष्टि में सृष्टि की प्रत्येक वस्तु दूसरी से एक अस्पष्ट सम्बन्ध में जकडी हुई दिखाई पडती है । ऐसे समय कवि की भी सहन्यता अनन्य-हृदयता का रूप धारण कर लेती है और झरनों में, निर्जन वन में, मर्मर करते हुए कानन में, पुष्पो के पराग की गंध में, सुग्ध पवन के मृदुल झोको में, भक्त को केवल अपने ही प्रियतम की मधुर वाणी सुनाई देती है । वह खिले हुए फूलों में, रमणी के स्मित आनन में, सुन्दर मेघमाला में, निखरे हुए चन्द्र-दिम्ब में, अपने प्रियतम के सौन्दर्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन में, विजली की कडक में, वज्रपात में, भूकम्प में उसकी रौद्र मूर्ति का, ससार के असामान्य धीरों में शक्ति का और परोपकारियों, त्यागियों एवं

माता के स्नेह-पूर्ण चुम्बन में उनकी शीलता, बत्मलता आदि का साक्षात्कार करना है ।

रहस्यवादी विशेषतया चार प्रकार के होते हैं —

(१) भक्ति-उपासक (Devotional mystics) इनके चिन्तन में सन्यासी होकर परमात्मा का भजन करना ही मफाता की कुर्जी है । प्रात्मिक एवं शारीरिक धन, निर्माष्टता (definiteness), वीरतामूक मादम, तीक्ष्ण बुद्धि, तीक्ष्ण व्यग वही इनके योग्य के लक्षण हैं ।

(२) दार्शनिक (Philosophical mystics) ये सन्यासी होकर समाज परित्याग करने के नदी, पराधर पर ही विरक्त जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती हैं ।

(३) प्राति-उपासक (Natural mystics) वे पूर्ण और पत्नी ही में परमात्मा का साक्षात्कार लेते हैं । इतरा मा है कि मनुष्यता पहले प्रकृति ही में स्वयं का ध्य देण करती है । अनया मदमे परमा इंगर-ला प्रकृति का से निर नही है । उतही मदमे परा प्रकृति प्रकृति ही है । यह प्रकृति परा का परा करती है, जो परा परापर्य और प्रकृति का मजा करे । यह प्रकृति का प्रकृति म ही निर-परा ही है । म अनक-परा ही म ही के अनक-परा शक्ति का प्रकृति है, कर्म-परा-परा-परा-

वाद तथा आस्तिकता है। हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

हम कवीर को इम तीसरी श्रेणी में रखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। प्राकृतिक सौंदर्य हृदय में उपासना का भाव जागृत कर देता है, वासनाएँ शांत हो जाती हैं। कवीर इस भक्ति-भाव से प्रेरित अवश्य हुए थे, परन्तु चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौंदर्य है, कवीर इससे अनभिज्ञ नहीं थे। यह शांति उन्हें फला और फूलों में प्राप्त न हो सकी। हाँ, इन सब ने भक्ति-भावना की ओर कवीर का ध्यान आकर्षित अवश्य कर दिया।

(४) प्रेमोपासक (Love mystics) इनके अनुसार "अज्ञात" से मिलाने का उपाय एक मात्र प्रेम है। इनके मतानुसार प्रेम केवल उच्छ्वास मात्र ही नहीं है, वरन् वह एक निग्रह-साधन भी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप में करते हैं। यही सूफी मत है। सूफी लोग ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप में करते हैं और इस प्रसंग में शराब, मद आदि को भी ले आते हैं। कवीर के ऊपर भी इस रंग का काफी असर है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक प्रेम-मस्त प्राणियों की इच्छा कायर की समर-

लालनाई जो छद्म की ताकाह सुनते ही विलुप्त हो जाती है, परन्तु कवीर प्रेम-भक्त प्राणियों में में हैं । कवीर के प्रेम में ममत्व नहीं, धरन आन-समर्पण है । इन्हीं भावना से प्रेरित होकर प्रियतम में साक्षात्कार होने पर कवीर कहते हैं—

ताली मेरे ताल की जिा देखूँ तित लाग ।

लागी देखन न गटे में ही हो गई ताग ॥

प्रेम की इन्हीं शुद्ध एवं उत्तम अवस्था में प्रियतम के प्रेमा-नुगत में स्मृतिमय होकर प्रेमी आज्ञाति हो गाने लगता है—

हमन है इन्क मरगाग, हमन को हंमियागी क्या ।

गई आजाग न लग में, हमन तुनियाँ से यागी क्या ॥

जो विष्टुं है विगत में, भउकल न यदर निरने ।

हमाग यार है हमने, हमन पो। इतगारी क्या ॥

न का विष्टुं विग हमने, न हम विष्टुं विगत में ।

इही से उद गगी है, हमन को येगारी क्या ॥

करीग हरन का भाग, दुहे से। दुधर नि * में ।

जो थ न राउ मासुव है, हमन निर सोन, भागी क्या ॥

हे प्रेमात्मन ! क्या इत नयेतापर में, त । जो कवीर विंगन ?
 क्या यह इतना-करीग नयेतापर में, त । जो कवीर विंगन ?
 क्या यह इतना-करीग नयेतापर में, त । जो कवीर विंगन ?

आनन्द की यह भीनी भलक क्या कभी हमे भी देखने के लिए
मेलेगी ? आह !

सो दिन कैसा होयगा गुरु गहिगे बाँह ।

अपनाकर बैठावहि चरन कमल की छाँह ॥

—सोमनाथ गुप्त

अयोध्याकांड के मुख्य पात्रों पर धर्म-संकट
और
उनका निर्यात

या अनेक वार धर्म-संकट (Conflict of duty) पडा है और उसका वडा ही अच्छा निर्वाह हुआ है। पात्रों के सामने दो विरोधी कर्तव्य आ जाते हैं और उन्हे उन दोनो पर विचार करके अपना मार्ग निश्चित करना पडता है। यहाँ हम इस कांड की दूसरी विशेषता अर्थात् पात्रों के धर्म-संकट तथा उनके निर्वाह पर विचार करेंगे।

यह विचार करते समय कि अमुक पात्र ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया है वह ठीक है या नहीं, एक बडी कठिनाई हमारे सामने आ जाती है। यदि हम उनको धार्मिक अवतारी अथवा आदर्शपुरुष की दृष्टि से देखते हैं, तो हमारा निर्णय कुछ और ही होता है, और यदि हम उन्हे राजनीतिक दृष्टि से देखते हैं तो हमारा निर्णय दूसरा होता है।

अयोध्याकांड में सबसे पहले धर्म-संकट कैकेयी के मन्मुख उपस्थित होता है। वह राम का राज्याभिषेक सुनकर आनंद मनाये या उनको वन भेजकर अपने पुत्र भरत को राज्य दिलाये। यथार्थ मे इसे हम धर्म-संकट नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ दो विरोधी कर्तव्य कैकेयी के सामने एक साथ नहीं आते। इसे हम अद्भुत विचार-परिवर्तन कह सकते हैं। फिर भी इस विचार-परिवर्तन पर विवेचना करना विषयान्तर न होगा, क्योंकि दोनो विचार हैं अत्यंत विरोधी।

मथरा जग मुँह लटकाये राम के अभिषेक का समाचार कैकेयी

‘अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।’

‘जर तुम्हारि यह सवृत्ति उखारी ।’

‘भामिनि भयउ दूव की मारी ।’

आदि बातें उसका मन फेर देती हैं। वह राम की पक्की रात्रु हो जाती और कहती है

‘नैहर जनमु भद्र बरुआई । जियत न करव सवृत्ति सेवकाई ।’

अब तो उसे केवल इतने ही से सतोष नहीं है कि भरत को राज्य मिले, वह यह भी चाहती है कि राम वन को अवश्य जायँ। उसे अब राम के नाश ही में अपना सुख दिखाई देता है।

कैकेयी का यह निश्चय, चाहे हम उसे किसी भी दृष्टि से देखें, उचित नहीं जान पड़ता। यदि हम कैकेयी को एक उच्चकुल की स्त्री मानकर इस पर विचार करें, तो उसका यह निर्णय नितान्त अनुचित है। अपनी ही सौत के लडके राम को, जो उसे स्वयं अपनी माता से अधिक मानता है, विना किसी अपराध के वनवास दिलाना भला कौन उचित कहेगा। राजनीतिक दृष्टि से भी कैकेयी का यह कार्य अनुचित है। उसे विचार लेना था कि दशरथजी राम के बिना नहीं जी सकते तथा भरत को भी इससे प्रमत्तता न होगी। परन्तु जिस समय हमें यह स्मरण हो आता है कि कैकेयी की ‘गई गिरा मति फेरि’ तो तुरन्त ही वह हमें निर्दोष जान पड़ती है और मारा अपवाद भवितव्यता के ऊपर चला जाता है।

दूसरा धर्म-सकट राजा अशरथ के सामने उपस्थित होता है। वह अपने प्राणों से प्यारे राम को, कैशेयी को बचन दे चुकने के कारण, वन भेजें अथवा उन्हें घर रखकर अपने प्राणों को तोड़ दे। उन्होंने राम को तिराफ करने की मैत्री यही जानकर की थी कि यह फार्य मंत्र को अन्धा तगेगा। उन्हें मंत्र में भी यह ध्यान न आया था कि कैशेयी राम-धनराज का वरणा मोंगेगी, अन्यथा वह उसमें कभी पतन-यत्न न होते। वह कैशेयी से पट रहे हैं—

‘भामिनि भयेड गौर भाभाया । पर-पर नगर अत्र कभाया ।’

परन्तु उसका मनभाया ता अपर राम के वरणा ही में है। अशरथजी यहाँ तक रात्री हो जाते हैं कि भग्न ही सुखान हो। राम वन न जाने पाये, प्यारे अशरथ प्राण रखने क्यों न सो जाये।

‘भायु भाय अत्रही वेड तोही । राम तिरा तति मारति मोंही ।’

अत्र ने तप कैशेयी तिरा मोंति नही मारति, मों त्रि
‘सुगत रीति मरा त्रि अरि । प्राण जदि का कषा न त्रि ।’
के अनुसार रामको प्राण मारति, पत्नी दे। वह कश्यप राजा
मने म पदे त्रिभुवन होत हैं—

‘हृदय मारा मों त्रि होई । मारति मारि कही मोंरे कोंरे ।’

दुखाने वाला त्रिभुवन होत मों त्रि त्रिभुवन मारा पदका । मारति
- त्रिभुवन मारा मों त्रिभुवन होत मों त्रिभुवन मारा पदका । मारति
अत्र मों त्रिभुवन मारा मों त्रिभुवन होत मों त्रिभुवन मारा पदका । मारति

यह समझते हुए वचन दिया था कि कैकेयी राम के विरुद्ध कभी कोई वरदान नहीं माँगेगी। राम की ही शपथ साकर वचन देना इस बात का प्रमाण है—‘भामिनि राम शपथ सत मोर्ही।’ यद्यपि वह रघुकुलरीति थी कि ‘प्राण जाहि वरु वचन न जाई’ तथापि *दूसरी ओर यह भी तो रघुकुल-रीति थी कि युवराज-पद सबसे बड़े पुत्र ही को मिले, अतएव राजा दशरथ ने जब रघुकुल-रीति तोड़ी ही, तो पहली रीति तोड़ देते, जिससे सब काम बन जाता। हम समझते हैं कि दशरथ को उस विपत्ति के समय में इस दूसरी रीति का ध्यान न रहा होगा, नहीं तो वह ऐसा निश्चय कदापि न करते।

तीसरा धर्म-सकट रामचन्द्रजी के सम्मुख उपस्थित होता है। उनका धर्म-सकट यह है कि वे पिता की आज्ञा मानकर वनवास करें अथवा उसे अनुचित समझकर अयोध्या में रहें और राज्य करें। आज रामचन्द्रजी को कुलगुरु वशिष्ठ उनके घर जाकर उन्हें उनके राज्याभिषेक की सूचना देते हैं, जिसे सुनकर उनका सहज शुद्ध स्वभाव उसमें अनौचित्य पाता है। उनका स्वभाव उनसे यह कहलाता है—

‘बिमल बस यह अनुचित एकू। अनुज बिहाइ बडेहि अभिषेकू।’

* बिमल बस यह अनुचित एकू।

अनुज बिहाइ बडेह अभिषेकू ॥

दूमे हीं गिन उनको एक विनम्र ल विपरीत आशा मिलती है । कैकेयी की आशा पाकर सुमन रामचन्द्र को राजा उद्योग्य के पाम बुताने जाते हैं । कैकेयी से पूछने पर उन्हें मर घात मान्दम होती है । राम को विदित होता है कि उन्हें शीघ्र यरम के लिए वनवास की आशा मिलती है । यद्यपि यह आशा पहले दिन के निश्चय के विपरीत है परन्तु उसे मानने से वे तिरि भी मकोच नहीं करते, उसे अपना यज्ञ नाम्य गपटो हैं ।

‘मुन जनो मोड सुा दग् भागी । जो विनु-मातु वरन अजुरागी ।’

यदि मर पूदा जाय तो राम के मामने यह धर्म मण्ड आना ही नदा है कि यह वन को जायें न न गौर । वे तो मात्र-पिता के आशाकारी पुा हैं । उक्त वा जाय से प्रसन्नता होती है और यह प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है, जब गही उनके विना माता की भी आशा है । ये कहते हैं—

‘मुनिगर मिलतु विसेपि द्या, सवदि भौदि दिव मार ।

वेदि नते विनु अत्यमु कृति, समनवि नाने कोर ।

अरु वा गार पाना ती गन के विम केन आनर-दर है—

‘अनु माप्रिय, धारि रात्र ।

दिपि मरु विपि मोदि मरुदुग अरु ॥

राम वही से आनर है जो है शीशान के मरु वरुंसे द्यो ननक पाशम का मरुवात इर अदि ॥—

‘विता र्हे ह मोने दामर रात्र । यहै मरु अदि मरु वरुंसे द्यो ॥

और उनसे वन जाने की आज्ञा माँगी। राम ने यहाँ 'अनुचित उचित विचार तज' कर और 'पितृ वैन' पालन करके अपूर्व पितृ-भक्ति दिखालाई है। हमें यहाँ यह विचार करना है कि रामचन्द्रजी ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया, वह ठीक है या नहीं। इस प्रश्न पर तुलसीदासजी के समकालीन तथा उनके परिचित सुफवि रहीम अपनी सम्मति इस भाँति देते हैं—

‘अनुचित वचन न मानिये, यदपि गुरायसु गाढि ^{काढि}
है ‘रहीम’ रघुनाथ तै, सुजस भरत को बाढि ॥

इस विषय पर दो प्रकार से विचार करना उचित है। यदि हम राम को आदर्श पुत्र और—

‘प्रसन्नता यो न गतोभिपेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदु खत’

वाले विचारों को मानकर विचार करें तो उनका इस विषय का निर्णय सर्वथा उचित जँचता है। दूसरी ओर यदि हम राम को राजनीतिज्ञ मान लें, तब तो यही कहना पडता है कि राम ने वन जाकर भारी भूल की। हम देखते हैं कि सारी अयोध्या को उनके वन जाने की आज्ञा सुनकर दुःख हुआ है और अयोध्यावासी राजा दशरथ की इस आज्ञा को अनुचित मानते हैं। अतएव राम सहज ही में वन न जाकर युवराजपद ले सकते थे। राम यह भी जानते हैं कि राजा दशरथ स्वयं भी उनके इस आज्ञा-उल्लंघन ही में सुखी होंगे।

वे उनके पिता जी नहीं सकते। उधर भक्त भी उनके इतने भक्त हैं कि राम को युवराजपद ले-ने में उनके प्रमत्ता ही होगी। रघुकुल-भीति तो यह थी ही कि युवराजपद मथने वाले को मिले। अतएव राम अपने पिता की आज्ञा को न मानकर मारी आपत्तियों का निवारण कर सकते थे। परन्तु राम को तो यह रीति पहले ही अनुचित जान पड़ी थी, तब वे भला पितृ-आज्ञा उल्लंघन करके युवराजपद कैसे स्वीकार करते।

राम का वन जाना निश्चित होने ही एक माघ पूर्णमासी पर धर्म-संकट आ पड़ते हैं। कौशिल्या राम को वन भेजें तब न भेजें, सीता राम के साथ वन जाय या घर रहे, यही प्रसन्न लक्ष्मण के सामने भी है। मुनिब्रह्मलक्ष्मण को राम की सेवा में भेजें या नहीं और स्वयं राम इन दोनों को घर या जाय या घर ही पर रहने की आज्ञा में एक अजय मन्त्रज्ञों पैदा हो गयी है। प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्र के हृदय में तो विरोधावाहियों का युद्ध हो रहा है। यहाँ तक इन सब पर प्रकाश दिखाने हैं।

कौशिल्या को राम-वनवास की आज्ञा सुनकर एक दण्ड भारी भक्त्या पहुँचता है। यहाँ तो वे इन विचार में मग्न हैं कि क्या राम को युवराजपद मिलेगा और यहाँ विगति की पूर्ण मूर्खता के लक्षणार्थी यहाँ राम वनवास की मन्त्र विचार्य है। यदि वह इस बात की पहचान में मज्जित भी जाता होता तो यहाँ स्वयं पर इनकी अक्षय भीरुता पैदा है। वे राम-वनवास की मन्त्र

सुनकर बडे ही धर्म-सकट मे पड जाती है । कौशिल्या के धर्म-सकट को गोस्वामीजी ने इस भाँति वर्णित किया है—

राजों सुतहि करों अनुरोधू । धरम जाइ अरु वधुविरोधू ॥
कहाँ जान बन तौ बडि हानी । सकट-सोच-विषस मै रानी ॥

इस कठिनाई को सुलझाने की एक युक्ति कौशिल्या के ध्यान में आती है । वह राम से यह पूछती है कि बन जाने की आज्ञा तुमको केवल तुम्हारे पिता ने ही दी है या कैकेयी ने भी । यदि पिता ने ही आज्ञा दी हो, तो मैं तुम्हें बन न 'जाने की आज्ञा देती हूँ और तुम माता की आज्ञा पिता की आज्ञा से बडी जान कर घर पर रहो ।

‘जों केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बडि माता ।’

परन्तु वहाँ तो माता व पिता दोनों की यही आज्ञा है, यह जानकर फिर कौशिल्या सकट मे पड जाती हैं । अत में उनका स्त्री-धर्म तथा राम और भरत दोनों के प्रति समान प्रेम उनसे राम को बन जाने की आज्ञा दिला देता है ।

‘बहुरि समुक्ति तिय धरमु सयानी । राम भरत दोउ सुत समजानी ।
सात जाउँ बलि कीन्हेंहु नीका । पितु आयसु सब धरम क टीका ।’

कौशिल्या के इस निर्णय पर विचार करते समय यद्यपि उनके स्त्री-धर्म को मातृ-धर्म पर प्रधानता देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु उनका भरत को राम ही के समान अपना

पुत्र समझने का विचार इस प्रतीक्षित्य को बिलकुल दूर कर देता है। यदि किसी माता के दो समान पुत्र हों और उनमें एक को बनवान व दूसरे को युवराजपद मिलेजाता हो, तो वह कैसे यह कहेगी कि दूसरे को युवराजपद न देकर पहले को दिया जाय। अनाम्य कौशिल्या का यह निर्णय अनुचित नहीं जान पड़ता।

राम के बनवान की बात सुन सीताजी व्याप्त हो उठीं। उसकी इच्छा यह हुई कि राम हमसे भी अपने साथ न चले, परन्तु इस बात का विषयम नहीं हुआ कि राम चले ही चले। अतएव वे मायती हैं—

'की तनुमान नि केरा प्रात । विधि परतद कछु जाइ न जान ।'

यह तो सीताजी विद्वान मायती हैं कि यदि राम यह साथ न भी ले जाये, तो भी उनके प्रात अथवा हा राम के साथ जाये। सीताजी से। पर। सीताजी पर हरे क वि। समझती हैं, परन्तु यह समझना कि राम राम के मायती का मन पर अतएव अतएव दे, पर राम में चली हैं—

'की विरा मता री कल प्रात । सीते को हों विप्रद अर त्त ।'

यह सीता जी अर्थात् माता के मायती समझती हैं कि राम राम के साथ न भी ले जाये, तो भी उनके प्रात अथवा हा राम के साथ जाये। सीताजी से। पर। सीताजी पर हरे क वि। समझती हैं, परन्तु यह समझना कि राम राम के मायती का मन पर अतएव अतएव दे, पर राम में चली हैं—

सुकुमारता से उनकी तुलना करके, उन्हें हतोत्साह करना चाहते हैं। सीता यह सब सुनकर भी अपने निश्चय पर दृढ़ रहती हैं और राम की इन बातों का उत्तर वही सुन्दरता से देती हैं। वे व्यगमय वचनों में राम से कहती हैं—

‘मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू। तुमहि उचित तप, भोकहँ भोगू।’

राम अब सीता को दूसरी ही प्रकार से समझाते हैं। वह सीता से कहते हैं कि तुम घर पर माता-पिता की सेवा करने के लिए रहो, माता-पिता की सेवा करना तुम्हारा धर्म है। जब वे हमारे विद्योह से दुखी हों, तब तुम उन्हें अपनी ‘मृदुवानी’ से समझाना। सीताजी को यह सब शिक्षा अनुचित जान पड़ती है। पतिव्रत के सामने ‘सादर सास-ससुर-पद-पूजा’ उन्हें फीकी जँचती है। अतएव वे कहती हैं—

‘मैं पुनि समुक्ति दीरघ मन माहीं। पिय वियोग सम दुख जग नाही।’

x

x

x

‘तनु धनु धामु वरनि सुरराजू। पतिविहीन सब सोक-समाजू।’

अन्त में उनका वन जाना तय हो जाता है और वह भी कौशल्या से विदा माँगती हैं।

हमें सीताजी का यह निश्चय बिलकुल उचित जान पड़ता है। स्त्री का कर्तव्य यही है कि वह पति का विपत्ति में भी साथ

न छोड़े, फिर भला सीता जैसी आदर्श स्त्री का तो यह कर्तव्य होना ही चाहिए।

रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त लक्ष्मण ने जब राम-वनगमन का समाचार सुना, तो वे घबरा गये। उनके मन में यह शका आने लगी—

‘मोरहूँ काट कह्य रघुनाथा । रगिहृदि भवन कि तंहृदि नाथा ।’

राम उनको भी घर रहने की शिक्षा देते हैं और कहते हैं कि माना पिता को माल्यना देते रहता। लक्ष्मण अपने आग्रह-द्वारा राम के वचनों या उत्तर नहीं दे सकते। डाँकी समझ में राम की बात को काटना अनुचित होता, परन्तु घर पर न रहने की वेदमी को वे अपनी प्राणति द्वारा प्रकट कर देते हैं। ये अग्रगण्य कदम उठते हैं—

‘ताप दासु नै भ्यामि सुगुण गजदु न तात वनाड ।’

×

×

×

‘मारे मपट कर सुम मयाती । दीगमु परबन्तरतामी ।’

राम को लक्ष्मण की सेवा, शत्रु प्रीति देमका गजदु का मे कहने की शक्ति देती ही पत्नी है।

लक्ष्मण का यह कर्तव्य भावनात्मक नहीं है बल्कि शक्तिमत्क है। लक्ष्मण ही रामों का दुःख का कर्तव्य

अपने भाई के प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिता के प्रति, फिर ऐसे विशेष अवसर पर, जब कि भरत व शत्रुघ्न भी घर पर नहीं है और माता-पिता पर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मण को अपने पिता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हो— 'मोरे सबड एक तुम स्वामी ।'

लक्ष्मण का सुमित्रा के पास वन जाने की आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रा पर भी धर्म-सकट आ जाता है। वे मोह में फँसकर लक्ष्मण को वन जाने से रोकें या उन्हें वन भेजे। इस सम्बन्ध में सुमित्रा का निर्णय सर्वथा स्तुत्य है। यद्यपि लक्ष्मण अपनी माता से आज्ञा माँगने में सकुचते हैं—

'माँगत विदा सभय सकुचाही । जाइ सग, विधि, कहहि कि नाही ।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोह को दबाकर लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा देने में तनिक भी नहीं सकुचती, वरन् उन्हें राम-जानकी की सेवा करने का उपदेश देती हैं। वे अपने धर्म-सकट को तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं। उनकी निम्नलिखित सीमा बड़ी ही जोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु वैदेही । पिता राम सत्र भाँति सनेही ।'

x

x

x

'जौं पे सीय-रामु वन जाहीं । अबध तुम्हार काज कुछ नाही ।'

x

x

x

'जेहि न राम बन लहहि ^{करे} कलंगू । सुन सोइ करेहु ई ^{उपेंसू} ।'

सुमित्रा ने मोह को अपने हृदय से दूर हटा देने की इच्छा है। उनका लक्ष्मण को उपदेश आदर्श धारण-भक्ति का उपदेश है।

यदि मंच पूछा जाय, तो अयोध्याकांड भर में धर्म सफ्ट फेंकल भरत ही पर पडता है। वे जो विरोधी वर्तव्यो के बीच में घुरी तरह पिन रहे हैं। एक ओर माता-पिता की उरारे लीण यह आशा है कि यह राज्य स्वीकार करे। सुन-सुन इत्यादि भी उनको राज्य स्वीकार करने के लीण ही चंग दे रहे हैं। दुमरी ओर उनका अन्न करण उनमें धार-वार यह रहा है कि यह आशा अनुचित है। राम के माध यह ही अन्याय किया गया है, राज्य पाने के अधिकारी वे ही हैं अतएव तुम यह पर स्वीकार न करो।

भग्न अपने ननिहाय में सौटकर आरोपित को धा गे हैं। भक्ति भक्ति के अपशकुनों में यह भारी कष्ट की मूर्खता मिल रही है। कैकेयी ने मिलने ही के अपने विना तथा राम आदि को सुगन पुरमे हैं। कैकेयी बदने नान ने मनभारी हैं कि भग्न उनके बरदाओं की याग गुणन पट्टा प्रमथ हो। व शायी हैं—

'याग दाग में नदण मेंदार्ग । भद्र भंदाग म्पाग विजारी ।'
परन्तु भग्न जो ही म्पाग की म्पाग म्पाग म्पाग म्पाग

अपने भाई के प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिता के प्रति, फिर ऐसे विशेष अवसर पर, जब कि भरत उ शत्रुघ्न भी घर पर नहीं है और माता-पिता पर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मण को अपने पिता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हो— 'भोरे सवड एक तुम स्वामी।'

लक्ष्मण का सुमित्रा के पास वन जाने की आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रा पर भी धर्म-सकट आ जाता है। वे मोह में फँस कर लक्ष्मण को वन जाने से रोकें या उन्हें वन भेजें। इस सम्बन्ध में सुमित्रा का निर्णय सर्वथा स्तुत्य है। यद्यपि लक्ष्मण अपनी माता से आज्ञा माँगने में सकुचते हैं—

'माँगत विदा सभय सकुचाहीं। जाड सग, विधि, कहहि कि नाहीं।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोह को दबाकर लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा देने में तनिक भी नहीं सकुचती, वरन् उन्हें राम-जानकी की सेवा करने का उपदेश देती हैं। वे अपने धर्म-सकट को तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं। उनकी निम्नलिखित सींग बड़ी ही जोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भौंति सनेही।'

x

x

x

'जौं पै सीय-रामु वन जाहीं। अवध तुम्हार काज कुछ नाहीं।'

x

x

x

कौशिल्या का मन उसी शोर से त्रासित साक था। तो भी भरत को यह निश्चय कराने के लिए कि उन्हें उसी नेरनीयनों का पूर्ण विश्वास है, कौशिल्या को यह कहना पड़ता है—

‘मत्त तुन्हाग एह जो जग कहहीं । सो नपनेहुँ सुख सुगति न कहहीं।’

रामा शरय के शत्रु का दारु-सम्हार श्राप्ति करने के बाद पशिएजी भगत को ज्ञानोपदेश करने हैं और उनसे पिता की आज्ञा मानने का अनुरोध करते हैं।

‘अनुचित उचित विचार तजि, जे पावहि भिनु करत ।

ते भाजन सुख सुखन के, वनहि अमरपति अयन ॥’

ये उपदेश भगत के ध्यान में बिलुप्त नहीं होते। वे अपनी बात पर हड़ रहते हैं और यह विचार करते हैं कि वे राम को पत्र में लौटाकर मिहामता पर बैजार और शरय उनके जाने कल-धाम करें। अतएव वे माताओं, पुत्राचार्य, पण्डित तथा गणना पंडित को लेकर राम-पात्रों से मिलने का दिव्य विप्रकृत पशुचर भरत राम से वि- और यह हर तरह से पर मीठ बातें बोलि शिरा शिरा; परन्तु राम ने सब से न शिरा की हृदय शिराई, और भरत को भी शिरा की आज्ञा पालन करने का उपदेश दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अवसर पर पशिएजी ने भरत की ओर से शिरा कर रहे हैं और राम से राम को काट करने को कहते हैं। राम ने अपने मध्य निरंजन को इस धीरे लक्ष्य बिना है—

लक्ष्मण के वनवास की सूचना पाते हैं, त्योही वे बड़े ही दुखी होते हैं। सबसे अधिक दुःख उन्हें इस बात का है कि उनके ही कारण इतना उपद्रव हुआ है। उनकी ही भलाई के लिए उनकी माता ने इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। अतएव वे कह उठते हैं—

‘वर माँगत मन भइ नहि पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ।’

×

×

×

कइकइ कत जनमी जग माग्ता । जो जनमति भइ काहे न वाग्ता ।
कुल कलक जेहि जनमेउ मोहीं । अपजस भाजन प्रियजन द्रोही ।’

भरतजी तुरन्त कौशिल्या के पास जाते हैं। उन्हें अब यह बात आवश्यक जान पड़ती है कि वे कौशिल्या आदि को यह विश्वास दिला दें कि वे स्वयं इस पडयत्र से विलकुल अलग थे। वे सैकड़ों शपथ खाते हैं कि मेरी सम्मति से ये वरदान कदापि नहीं माँगे गये हैं।

‘जे अध मातु-पिता सुत मारे । गाइ-गोठ महिसुरपुर जारे ।
जे पातक उपपातक अहही । करम-वचन-मन-भव कवि कहहीं ।
ते पातक मोहि होहु विधाता । जौं एहु होइ मोर मत माता ।’

‘जे परिहरि हरिहर चरन, भजहि भूत घनघोर ।
तेहि कै गति मोहि देहु विधि, जौं जन्नी मत मोर ॥’

परन्तु वहाँ तो इन शपथों की आवश्यकता ही नहीं थी।

कौशिल्या का मन उनकी ओर से विकृत नमक था। तो भी भरत को यह निश्चय कराने के लिए कि उन्हें उनकी नैकनीयता का पूर्ण विश्वास है, कौशिल्या को यह कहना पड़ता है—

‘नत तुम्हार एह जो जग रहतीं । सो नपनेहुँ मुख मुमति ततहदीं।’

राना दशम्य के शत्रु का पहल-सम्हार आदि करने के बाद वशिष्ठजी भक्त को क्षानोपदेश करने हैं और उनके पिता की आशा मातो का अनुरोध करते हैं।

‘अनुचित उचित विचार तपि, ते वालिहि पियु परत ।

ते भाजन मुख सुख के, एनहि अमरपति एयन ॥’

ये उपदेश भरत के ध्यान में विन्दुना गयीं जाते। वे अपनी बात पर हठ नहीं हैं और यह विचार करते हैं कि ये राम को धन से लौटाकर विद्वान्ता पर बैठार और शत्रु उनके पदों पर पागल करें। अगण्य वे मायाजनों, सु-पुरुष पशित्त सग्न समस्त शीत को लेकर राम जागती में गिरीं बात दिने। पित्रवृत्त पद्वैपसद भक्त राम से गिता और एहे हर तरह से धर लीं धानो के लिए शिक्षा विज्ञान, पशु राम में बात से त-नीने को हदता दिगार्त, और भरत को भी गिता की आका पागल बात का उपदेश दिना। यह बात पशु है। गोप्य है कि इस कथना पर पशुपती भी भक्त की ओर से पशुता कर रहे हैं और राम से राम्य शोकात करने की बटोरे हैं। भरत ने अपनी एक विवेक को इस भीति पर विना है—

‘सानुज पठइय मोहि वन, कीजिय सवहि सनाथ ।
नतरु फेरि यहि बधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ ॥’

इससे यह प्रकट होता है कि भरत राम को अयोध्या लौटा ले चलने पर उतना जोर नहीं देते, जितना कि अपना राम के साथ रहने और उनकी सेवा करने पर । राम भरत को अयोध्या का प्रबन्ध करने के लिए लांटाना ही चाहते हैं और उन्हें अत्यन्त गम्भीर उपदेश देते हैं, जिसे सुनकर भरत को विवश होकर कहना पड़ता है—

‘अब कृपाल जस आयसु होई । करौं सीस धरि सादर सोई ।
सो अबलन देउ मोहि देई । अवधि पार पावौं जेहि सोई ।’

यहाँ पर राम ने भरत को राज्य-शासन सम्बन्धी उपदेश दिया है । यह उपदेश तो भरत को बहुत उचित जँचा, परन्तु बिना किसी आधार के उनका मन शांत न हुआ ।

‘बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भांती । विनु आधार मन तोपु न साँती ।

अतएव राम ने उनको अपनी खड़ाऊँ दे दी और भरत उन्हें सादर लेकर चल दिये ।

‘प्रभु करि कृपा पावरी दीन्ही । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ।’

उन्हीं खड़ाउओं को सिंहासन पर रखकर और स्वयं तपस्वी और सेवक के समान रहकर राज-काज करने लगे । अब उनका यह नित्य-कर्म हांगया—

'निता प्रजत प्रभु पौवरी, प्रीति न ह्य ममाति ।

मौगि मौगि आयनु करत, राज-काज यह भौनि ॥

जितना ही विराट धर्म-मूकट भरत के मामले उपस्थित हुआ है उतना ही अन्ध्रा उन्होंने उनका निर्वाह भी किया है । उन्होंने एकदम ही राज्यमिहामन स्वीकार न करके अपनी उमरगा दिव्याई है, अपने मन को भी नमना दिया है और उन में राज-काज भी अन्यथा नहीं होने दिया है । राजा के हठान्य करते हुए भी उन्होंने राज्य के आनन्द का भोग नहीं किया है । उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का पालन भी बिना और उमरगा पालन भी किया है । राज्य भार तो अंग में पहन ली किया, परन्तु नाथ ही उन्होंने यह भी जितना दिया कि पालन में राज्य पर उनका कोई अधिकार नहीं है । यह तो राज ही को निजता पाठिका था । राज-काज तो पालन रख गैमान्यो है परन्तु राज्यमिहामन पर राज ही पादुका बैठी है । यदि मर्यादा गैमान्यो नगिमान में आते ही राज्यमिहामन कर लेते, तो यह कैसा आश्चर्य कार्य हुए ही पालनो परन्तु उमरगा न करने में उमरगा पालन बहुत उमरगा हो गया है । उमरगा न करने में उमरगा पालन कि भवत माम्बर ने राजा काज आहते में, उमरगा पालन पालन को उमरगा करने ही के लिए उमरगा पालन मिहामन किया है । उमरगा पालन उमरगा पालन के लिए उमरगा पालन मिहामन किया है । उमरगा पालन उमरगा पालन के लिए उमरगा पालन मिहामन किया है ।

अन्त मे हम देखते हैं कि इस काड भर में वास्तव मे केवल तीन धर्म-सकट आते हैं। पहला राजा दशरथ पर, दूसरा कौशिल्या पर, और तीसरा भरत पर। सब से बडा धर्म-सकट भरत के सम्मुख है और उसका निर्वाह भी उसी के अनुरूप हुआ है। हम दशरथ के धर्म-सकट-निर्वाह से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका अपनी कुटिल स्त्री से प्रतिज्ञाबद्ध होकर उसीके वचन को सब परिस्थितियों में प्रतिपालन करना ठीक नहीं जँचता। उन्हें ऐसे अनुचित निर्णय का फल भी उनकी मृत्यु के रूप मे तुरन्त ही मिल गया। कौशिल्या ने अपने धर्म-सकट का हमारे विचार मे उचित निर्वाह किया है।

यहाँ पर यह दिखा देना अनुचित न होगा कि हमारे ऋवियों की रचनाओं मे धार्मिकभावो के आजाने के कारण, कला की दृष्टि से, उनमे कैसी अमम्बद्धता आ जाती है। इतना सब उपर्युक्त विचार करने के बाद भी ज्योंही हम इस बात को याद दिलानेवाली कोई पक्ति पढते हैं कि राम, दशरथ आदि पात्र जो कुछ कहते या करते हैं वह अपनी प्रेरणा से नहीं, वरन् एक और ही कार्य के निमित्त, तो इन पात्रो के कार्यों की वास्तविकता जाती रहती है। कौशिल्या व दशरथ का राम के लिए विलाप, सीता का वन जाने के लिए अनुरोध आदि बातें बनावटी और अवास्तविक लगने लगती हैं। ऐसा जान पडता है कि राम, दशरथ, सीता आदि पात्र किसी नाटक का अभिनय कर रहे हैं। —बलभद्रप्रसाद

कविवर नन्ददास

की

राम-पञ्चाव्यायी

जिन समय माताप्रभु पलाभाचार्य उत्तरीय भाग में अपने
प्रभावना ¹नदानों का प्रतिपादन कर रहे थे, तब मगर

रामभाग श्रीराम के चरणों पर लक्ष्मी लुब्धी थीं।

उसमें प्रत्येक शब्द का साहित्य निर्माण करने की शक्ति का
गर्भ था, किन्तु अभी तक भाग पर किसी का हाथ नहीं
रखने में आकरिण्डन नहीं हुआ था। यह भाग साहित्य के अन्त में
था था। स्वयं कोर धर्म-सूत्रों की तरह समझ ली ॥ १ ॥

किसे परवा थी जो भाषा के सौष्ठव पर ध्यान देता ? यही क्या कम था कि कुछ वर्ष पहले “काशी का जुलाहा” अपनी ‘रमैनी’ और ‘बीजक’ में भाषा का कुछ राग अलाप गया था। चाहे उसका उद्देश्य अपने ‘पथ’ का प्रतिपादन ही क्यों न रहा हो, किन्तु उसने अपनी भद्दी भाषा में भी वह सजीवता भरी कि हमारी भाषा के आचार्य भी उसकी भाषा की सादगी और सजीवता का लोहा मानने के लिए तैयार हैं। यद्यपि कबीर साहब का उदाहरण सामने मौजूद था, किन्तु वल्लभाचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भाषा को बोलचाल का खिलौना ही समझकर छोड़ दिया था। पर इस समय भाषा का भाग्य ही दूसरा होना था। वल्लभाचार्य के नये मत-प्रचार के इस परम उद्देलित महासागर में भी भाषा-सौन्दर्य की एक ऐसी लहर आई, जिसका रूप-सौन्दर्य सारे मसार ने देखा। धर्म के महत्त्व से भाषा का महत्त्व कहीं आगे बढ़ गया। जिस भाषा के सहारे नया मत जनता में फैलाया जा रहा था, वह धर्म तो एक ओर रहा, भाषा सर्वत्र व्याप्त हो गई।

ब्रजभाषा की इस उन्नतावस्था ने कवियों के हाथ में ऐसी सामग्री ली, जो वास्तव में विश्व-साहित्य का निर्माण कर सकती थी। एक ओर तो भाषा का उन्नत स्वरूप “करतलगत आमलक” की भाँति कवियों के निकट था, दूसरी ओर थी वल्लभाचार्यजी की राधा-कृष्ण की प्रेम-कहानी। एक

और उत्तम रग था, तो दृग्गी श्वोर चितपट । तेमी अरम्या
 मे कान्य-चित्र के निर्माण में रुकावट ही क्या थी । एक माय
 हज्जारों लेखनियों चल पर्ग । सभी में राधा-दृग्गी का नाम
 था, ब्रजभाषा का मधुर रग था, और भाग्य हृदय की उल्लुख
 उमङ्ग थी । पर सभी लेखनियों एक ही क्या को एक ही
 भोंति नहीं लिख सार्नि—अव्यय, दोयन, मोयन का मज्जु
 हृदाये नहीं हट सका ।

बन्तभाचार्यजी के चार शिष्य थे । ये भी बन्तभाचार्यजी
 के स्वरों में श्रीकृष्ण-वर्णन किया करते थे । बन्तभाचार्यजी के
 एक पुत्र भी था, जिसका नाम विठ्ठलनाथ था । विठ्ठलनाथ ने
 भी शिष्य बनाने में अपने पिता का अनुसरण किया । "होने"
 भी प्राप्त शिष्य बनाने । इस प्रकार अपने और पिता के
 पार-पार शिष्यों की गिनत कर उन्होंने 'अष्टदास' की गना
 की । प्रस्तुत कवि नन्ददासजी उन्हीं 'अष्टदास' में विठ्ठलनाथ
 के शिष्य थे । शिष्य के निम्न "होने" काय की यह प्रतिभा
 शिष्य-पद कि उक्त शिष्य उनके कवि-द में योगों हुए
 पीछे रह गया । उन्होंने भी राधा-दृग्गी की गणना में योग
 होकर लेखनी करके । अन्य होकर लेखनी में कुछ शिष्य,
 यह आदिगी है । योगों मागे मातुर्ग के योग में शिष्य
 लेखनी हुआकर गया था । इस गणना-गणी की कवि-द
 पर "अष्टदास" के—

‘ललित लवग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे ।’

आदि पद याद आ जाते हैं ।

नन्ददासजी ने मुख्यतः चार-पाँच ग्रन्थों की रचना की है । उन सभों में ‘रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत’ मुख्य है । केवल यही ग्रन्थ कवि को अमर कर देने के लिए पर्याप्त है ।

शिवसिंह-सरोज के अनुसार यह ग्रन्थ संवत् १५८५ के

रचना काल लगभग बना । यह संवत् केवल अनुमान पर ही निर्भर है, क्योंकि स्वयं नन्ददासजी ने किसी

भी स्थान पर न तो अपने ग्रन्थ की तिथि का और न अपनी आयु ही का विवरण दिया है । भक्तमाल में भी इनकी आयु का कोई विवरण नहीं है । अतएव जब तक हमें कोई निश्चित तिथि न मिले, तब तक हमें शिवसिंह के अनुमान पर ही सतोष रखना होगा ।

इसकी रचना के विषय में नन्ददासजी ने स्वयं

रचना का कारण अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में एक कारण दे दिया है —

परम रसिक इक मित्र, मोहि तिन आझा दीनी ।

ताही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी ॥

नन्ददास का यह मित्र कौन था, इस विषय में अनेक मत हैं । अधिकतर यही अनुमान किया जाता है कि गगावाड़

निवृत्तानाथजी की एक शिष्या थीं, नन्ददासजी की उन्हीं में मित्रता थी और उन्हीं के कहने पर उन्होंने रासपञ्चाध्यायी की रचना की ।

रासपञ्चाध्यायी में श्रीकृष्ण की रास-रौता रसों में रोहा और रोला छद्म में वर्णित हैं । इसमें कुल पाँच अध्याय हैं । प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में शुक्लवर्ण की शिर-रंग वर्णन यही मनोहर रीति में किया गया है । नन्ददास भोवृन्दानन की छवि के वर्णन के साथ रास-रजनी की शोभा अद्भुत की गई है । उन्हीं समय हम श्रीकृष्ण को गुल्ली में स्वर भरते हुए पाते हैं । कला सभी प्राणोपिकाओं पर सुरती-स्वर में आच्छा हो उन्हीं पर में जा जाती हैं । पर जब श्रीकृष्ण उन्हें भी धर्म की शिक्षा देकर पर रौट गाने के लिए कहते हैं तो वे सभी "वाग्गी की माल" के समान भाव गूँज जाती हैं । इस अवसर पर मोदियों की दगा या ददा हो भाव-पूर्ण चित्र गीत गला है । सभी उच्छास दिया गया है, सभी श्रेष्ठ प्रशिक्षण किया गया है और सभी गानों का नर विस्तारण है । अन्त में रामोदा मोदियों की साथ भावपूर्ण कृष्ण में विहार करता है । हम पर मोदियों का इतना इतना मर्तित हो गया है । यह देवदत्त श्रीकृष्ण कृष्ण देव के लिए अर्पण हो जाते हैं । सभी रास-पञ्चाध्यायी का दगा नन्ददास समान हो गया है ।

द्वितीय अध्याय में गोपिकाएँ श्रीकृष्ण को प्रत्येक कुञ्ज में खोजती हुई लता-वृक्षों से कृष्ण का पता पूछती हैं। यह वर्णन बहुत ही सरस और करुणा से ओतप्रोत है।

तृतीय अध्याय में गोपिकाओं का सच्चा और मनोहर प्रलाप है। कहीं-कहीं उनका उपालम्भ बहुत ही मनोहर है। वे सभी कृष्ण से पुनः दर्शन देने की याचना करती हैं। व्याकुलता का बड़ा ही विदग्ध चित्र खींचा गया है।

चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते हैं और गोपिकाएँ विरह के पश्चात् बड़ी उत्सुकता और उमङ्ग के साथ मिलती हैं। यह मिलना बड़ा ही स्वाभाविक और सुन्दर है। अतः में श्रीकृष्ण गोपियों से अपने अपराध की क्षमा माँगते हैं।

पाँचवें अध्याय में श्रीकृष्ण की राम-लीला का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। पद-योजना इस प्रकार की गई है कि रास का दृश्य आँसों के सामने खिँच जाता है। फिर जल-क्रीडा होती है और प्रातः काल होने के पूर्व गोपियाँ अपने-अपने स्थान को चली जाती हैं। अध्याय के अन्त में नन्ददासजी ने कथा का माहात्म्य कहकर इस “उज्ज्वल रस-माल” को अपने कण्ठ में बसने की प्रार्थना की है।

नन्ददासजी ने अपनी रास पञ्चाध्यायी का कथानक मुख्यतः

आधार

भागवत ही से लिया है। उसमें अनेक स्थलों पर भागवत की कथा का ही रूपान्तर है, किन्तु

हम यह नहीं कह सकते कि नन्ददामजी ने भागवत के वे अश चुरा लिये हैं अथवा उनकी नकल कर ली है। उन्होंने जो बातें भागवत में ली हैं, वे इस प्रकार व्यक्त की गई हैं कि उन पर मौलिकता का रङ्ग नजर आता है। उनकी वर्णन-शैली और गज-माधुर्य में भागवत का अंश भी नन्ददाम छन मात्र पड़ता है। यही नन्ददामजी को काव्य शक्ति का उन्कूट प्रमाण है। कथानक चाहे एक ही हो, किन्तु दोनों की वर्णन-शैली में विभिन्नता है। हम तो यही कहेंगे कि यद्यपि नन्ददासजी-रसिण राम के पाँच अध्यायों के लिए भागवत दशमस्कन्ध क = ९ में लेकर ३३ अध्याय तक के चर्या हैं, किन्तु वे भागवत के दोषों कदापि नहीं टहराये जा सकते।

रासपञ्चाध्यायी का दूसरा आधार हरिवंशपुराण कहा जा सकता है, क्योंकि इस पुराण के विष्णु-वर्ष में राम का वर्णन है, जिसका वर्णन नन्ददामजी ने अपनी पञ्चाध्यायी में किया है। पुराण में उसका नाम 'वृन्दीन चंद्रा' दिया गया है। इसी राम के आधार पर हम रामपञ्चाध्यायी को हरिवंश पुराण का चर्या मान सकते हैं।

पञ्चाध्यायी का तृतीय आधार हम रामायण का 'विष्णोर्विन्द' मान सकते हैं। यद्यपि विष्णोर्विन्द और रामपञ्चाध्यायी के कथा नक ने आशय-त्याग का अन्तर है तथापि दोनों में रामायण, मयुरवा और शैली एक ही हैं। यद्यपि

जी ने कदाचित गीत-गोविन्द के माधुर्य के वशीभूत होकर ही अपने काव्य की रचना की है। दोनों की मधुरता का ढंग एक ही है।

अब हमें रासपञ्चाध्यायी के काव्य पर विचार करना है।

मुख्यतः काव्य के दो उपादान होते हैं। प्रथम काव्य

ससार-निरीक्षण और दूसरा कौशल। ससार-

निरीक्षण की क्षमता उस कवि में होती है जो वाह्य और अन्त-प्रकृति के ध्यान में अन्तर्हित होकर कल्पना और मनोवेगों के संयोग से अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। उसे ससार के भिन्न-भिन्न व्यापारों का पूर्ण ज्ञान रहता है। वह प्रज्ञाचक्षु होकर किसी भी वस्तु का उत्कृष्ट वर्णन करने में समर्थ होता है। इसका विवेचन हम 'कौशल' की मीमांसा के वाद करेंगे।

काव्य के दूसरे उपादान 'कौशल' को हम दो भागों में विभक्त करते हैं। प्रथम स्थान में किसी कवि का कौशल तब प्रकट होता है जब वह अपने काव्य की अन्तरात्मा का स्वरूप निश्चित करता है—उसमें रस, गुण आदि की सृष्टि करता है। दूसरे स्थान में कवि का कौशल उस समय दृष्टिगत होता है जब वह काव्य का वाह्य रूप (पद्योजना, अलंकार, छन्द आदि) निर्धारित करता है। जो कवि जितना प्रतिभाशाली होगा वह उतनी ही उत्कृष्ट रीति से दोनों प्रकार के कौशल दिखलाने में समर्थ

होगा। इसीके अनुसार हम नन्ददासजी के दोनो प्रकार के काव्य-कौशल पर विचार करेंगे।

पहले काव्य की अन्तरात्मा का स्वरूप सीजिये। नन्ददासजी ने अपने काव्य में रस और गुरु की सृष्टि की सुन्दरता के साथ ही रस

करुणा और शान्ति का धरी पिगा रीति में वर्णन किया है। कुछ महाशायों (?) का कथन है कि नन्ददासजी ने अपनी रचना में शृंगार रस की प्रधानता रक्की है और उसमें अनीकता की धूँ आ जाती है। विन्दु में यह पूछता हूँ कि शृंगार को प्रधान स्थान देने में दोष ही क्या है? यह समझा है। हाँ, यदि नन्ददासजी "प्राप्त शृंगार गिये तो शर महत्त में भक्ता लग सकता था, किन्तु उन्होंने जिस शृंगार का वर्णन किया, तिन भाव का प्रसारण किया, वह लौकिक नहीं, अनीकिक है, मित्र्य है—सुख है।" उदाहरणार्थ कुछ शृंगार रस के निम्न दो पदिकाँ ही पर्याप्त होंगी—

इहि विधि विविध विंगल हास सुख कृत मदा के।

जने अनुमता लीडन, प्रोडा कोरि मय के॥

किजना मरग अंगर-वर्णन है।

नन्ददासजी ने कल्प रस के वर्णन करने में भी इस कदम है।

आँसुओ की इच्छा माग्या में इतना जो हृदय-दर्पण

गूँये हैं, उन्हें हम केवल अनुभव कर सकते हैं, कह नहीं सकते ।
इस प्रकार का करुण रस हिन्दी-साहित्य में बहुत कम है —

प्रनत मनोरथ करत चरण सरसीरुह पिय के ।

कह घटि जैहै नाथ, हरत दुरा हमरे हिय के ॥

कहँ यह हमरी प्रीति, कहाँ तुमरी निठुराई ।

मनि पखान ते खचै दई ते कछु न बसाई ॥

जब तुम कानन जात सहस जुगसम वीतत छिन ।

दिन वीतत जिहि भौंतिहमाहि जाने पिय तुम विन ॥

जब कानन तें आवत सुन्दर आनन देखै ।

तब यह विधना क्रूर करि धरी नैन निमेलै ॥

अन्त में शान्त रस का कितना उज्ज्वल स्वरूप है ।

श्रवण कीरतन ध्यान सार सुभिरन को है पुनि ।

ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार, श्रुतिसार गुणो गुनि ॥

अघहरनी, मनहरनी सुन्दर प्रेम वितरनी ।

नन्ददाम के कण्ठ बसो नित मङ्गलकरनी ॥

रास पञ्चाध्यायी में दो गुणों की प्रधानता है । वे दोनों

गुण हैं, माधुर्य्य और प्रामाद । माधुर्य्य तो

इतनी उच्च श्रेणी का है कि हमें यह कहने

में सङ्कोच नहीं है कि यह कविता शहद से भी अधिक मीठी

है । प्रत्येक पद मानो अगूर का एक गुच्छा है, जिसमें मीठा

रस भरा हुआ है । शब्दों की कोमलता भी हृदय दर्जे की है ।

पक्तिरों में न तो सयुक्ताक्षर हैं और न लम्बे चौड़े समास ही । शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है । जो कुछ कहा गया है वह भी बहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ । “अर्थ अमित अति आर्यर थोरे” । राम-चर्यन कितना मधुर और मनोहर है ।

नूपर ककन विक्रिनि करत मजुन गुरली ।
 तात मृदग उपग पग णके मुर जुगली ॥
 मृदुता मधुर टंकार तात भकार मित्ती पुनि ।
 मधुर जत्र की तार भेंपर गुजार रनी पुनि ॥
 तैमिय मृदुपद पटफणि पटफनि कटतारन की ।
 लटफनि मटरनि मलाफनि फल कुडा हारन की ।
 गोररे पिर के सग नृतन या वा का बाता ॥
 जनु पनमटल मजुन नैगति दामिनिमाता ॥

पदों में प्रसाद गुण का भी अन्दा स्यात है ।

नर मखण मनि खान काक मजिगत मजुनात ।
 मृदाता को रीनि मातो पदिराई माना ॥

काव्य का शास्त्र रूप मानने में भी नन्ददासजी का वैराग्य दर्शाती है । पद-गोष्ठा का सुन्दर आगे-जा है । सुन्दर गुण का आहारे का, शिखर कीर हार का माला-प्रसाद है । शब्दों के अक्षरों में वह काव्य और भी अधिक मज्जा हो आया ।

नर-बीजवा, भयं
 का, घर

१ पदयोजना

या वन की वर वानक या वन ही वन आवै ।
सेस महेस सुरेस गनेसहु पार न पावै ॥

x

x

x

वैठे पुनि तिहि पुलिनहि परमानन्द भयौ है।
छविलिन अपनो छादन-छवि सुविछाय द्यौ है ॥

२ अनुप्रास

हे चन्दन, मुखददन स्र की जरन जुडावहु।
नैदनन्दन, जगमन्दन चन्दन हमहि बतावहु ॥
कोमल किरन अरुन मानो वन व्याप रही यो ।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड घुरिरहो गुलाल ज्यो॥

३ रूपक—नव मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजवाला ।

४ उत्प्रेक्षा—वृन्दावन को रोमि मनो पहिराई माला ॥

इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी सुन्दर रीति से सजाये गये हैं, पर स्थानाभाव से उन सबका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

समस्त ग्रन्थ रोला और दोहा छन्दों में लिखा गया है । रोला

छन्द लिखने में नन्ददासजी को बहुत सफ-

छन्द

लता मिली है । भावों के अनुसार ही छन्द

का प्रवाह है । किन्तु कहीं कहीं यति पर विचार नहीं किया

गया । जैसे—

‘मोहनाग रमाल की लीला इनहीं मोहै’ ।

बहुत से पिंगल के आचार्यों का कथन है कि रोग में ११ और १३ मात्रा की यति में २४ मात्राएँ होनी चाहिये । इसके अनु-
सार नन्ददासजी की रचना में यतिभंग दोष था जाता है, किन्तु
धामू जगन्नाथन “रत्नाकर” ने नागरी प्रचारिणी-पत्रिका में
“रोग के लक्षण” शीर्षक लेख में निम्न फल दिया है कि—

‘मेला छन्द में चारह मात्राओं पर यति होना आवश्यक
नहीं है, पर यदि हो तो अच्छी बात है।’ अतएव इन विद्वान्
के अनुसार हम यति के सम्बन्ध में नन्ददासजी को निर्णय
मातें हैं ।

अब नन्ददासजी को संसार-तिरीच्छा शक्ति पर छट्टि
झालिए ।

यदि वे मनोरंजनों के साथ प्रकृति का सदा सम्बन्ध हैं ।

भाव विहीन— इमका एक कारण है । मनोरंजक मनुष्य के

एक ही सम्बन्ध ही उपलब्ध होते हैं । उनके

सौन्दर्य में—हास्यभार में—मनोरंजनों की भाँस ही नहीं रहती

यस पूर्ण भावपूर्ण रहता है । यदि वे सारे दि मनुष्य का सा-

क्षात और हास्यभार मनोरंजना द्वारा ही साहित्य होता है, तो वह

अपूर्ण रहती । अतएव मनोरंजनों में साहित्य का भाग नहीं

होता है । अतएव और प्रकृति सम्बन्धियों का भाग है । इन्होंने हम

इस विषय पर सदैव जाते हैं कि मनुष्य के मनोरंजन, विषय-मय ही

रुनुक मुनुक पुनि भली भौंति सो प्रगट भई जब ।

पिय के अँग-अँग सिमित मिले हैं रसिक नयन तब ॥

कितना स्पष्ट स्वाभाविक चित्र है ! मानों हम स्वयं श्रीकृष्ण को ऐसी उत्सुक और ध्यानावस्थित दशा में विचलित देखते हैं । गोपियों की नूपुरध्वनि सुनने के लिए उनके नेत्र और हृदय कानों के पास सिमट आये हो और जब नूपुर ध्वनि स्पष्ट हो जाती है तो उन्हें देखने के लिए श्रीकृष्ण का प्रत्येक अंग आँसों से मिलना चाहता है । केवल इसी स्थल से हमें ज्ञात हो जाता है कि नन्ददासजी में साधारण से साधारण भावों के अनुसार मुख पर आई हुई मुद्रा को उसी समय पहचानने की कितनी विलक्षण शक्ति थी । यह थी नन्ददासजी की स्वभावोक्ति और उनका उच्चकोटि का भाव-प्रदर्शन !

‘स्वाभाविक भाव-प्रदर्शन’ के अतिरिक्त ‘प्रकृति’ शब्द का एक मतलब और है । वह है बाह्य जगत का प्रकृति-वर्णन नैर्मगिकसौन्दर्य । अंग्रेजों में इसे ‘नेचर पेन्टिङ्ग’ (Nature Painting) कहते हैं । इसके पर्याय हिन्दी में इसे ‘प्रकृति-चर्चन’ कहेंगे । यह प्रकृति-वर्णन कवि के वैयक्तिक मिद्धान्तों के अनुसार बदला करता है । अंग्रेजों में वर्डस्वर्थ (Wordsworth) का प्रकृति-चर्चन टेनीसन (Tennyson) के प्रकृति-वर्णन से सर्वथा भिन्न है । उसका कारण यह है कि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति को सजीव मानकर अपनी सहचरी समझा

है, किन्तु टैनीसन ने प्रकृति को मानवीय विचारों के चित्र के लिए केवल चित्रपट समझा है। उसने प्रकृति का अस्तित्व हृदय के विविध विचारों के समयानुगत प्रवर्तन के लिए ही माना है। हिन्दी के प्राचीन कवियों का भी प्रकृति के लिए अन्ततः यही विचार था। वियोग में उनकी प्रकृति वियोगिनी बनकर गेली थी और मयोग में उनकी प्रकृति में दर्प के चिन्ह नजर आते थे। यद्यपि यहाँ-यहाँ इस सिद्धान्त के कुछ प्रतिपाद प्रयत्न देखने में आते हैं पर मुख्यतः यह स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन कवि टैनीसन की भाँति प्रकृति को अपने भावों ही के रूप में देखते थे।

नन्ददासजी के प्रकृति-चर्चा पर तीक्ष्ण दृष्टि रखने से हम उसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) प्रकृति का मुख देनेवाला स्वाभाविक याद विवाह।

(२) आगामी पार्ष्ण के तीराम्बु के तरुण प्रकृति का रूप-प्रदर्शन।

(३) ऐतज काव्यरस के रूप में अपने-के लिए ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग।

यहाँ हम प्रथम प्रकार के प्रकृति-चर्चा पर विचार करने हैं। इस प्रकार के वर्णन में हमें प्रकृति एक नदी-तट की व समान दृष्टि-वस्तु होगी है जिसका स्वाभाविक गहन रूप और रूप

को आनन्द देनेवाला है। प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग में हम स्त्री के वाह्य सौन्दर्य की झलक पाते ।। इस प्रकार के वर्णन में कवि की रचना-शैली सीधी और केवल भाव-व्यञ्जक होती है ऊपरी सजावट और बनावट पर कवि का ध्यान कम रहता है। वह वर्णन करता है केवल सजीव सौंदर्य का और वह भी सीधे शब्दों में। नन्ददासजी का इस प्रकार का वर्णन यह है —

कुसुम धूरि धूमरी कुञ्ज मधुकरनि पुञ्ज जहँ।

ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनो प्रवेस तहँ।

नव पल्लव की सैनी अति सुखदैनी सरसे।

सुँदर सुमन ससि निरखत अति आनँद हिय वरसे।

दूसरे प्रकार के वर्णन में नन्ददामजी प्रकृति का रूप इस भाँति वर्णन करते हैं कि आगे होनेवाले कार्यों की तीव्रता बढ़ती है। अथवा यो कहिए कि उनमें उद्दीपन होता है। जिस प्रकार नाटक में शृंगार कथानक की सरसता, रगमच के दृश्य में उपवन, राज्य-प्रासाद या चन्द्र-दर्शन के होने से और भी बढ़ जाती है। उसी प्रकार कथानक का वेग और भी तीव्र करने के लिए नन्ददासजी ने प्रकृति का सहारा लेकर कथानक के अनुकूल ही वायुमण्डल की सृष्टि कर दी है। प्रथम अध्याय में कृष्ण की मुरली की ध्वनि को अधिक जादूभरी और प्रभावशालिनी बनाने के लिए कवि ने शरद की निस्तब्ध रात्रि का सहारा लिया है। प्रकृति यहाँ उद्दीपन-विभाव का काम करती है। देखिये —

फोमल किरन अरुन मानो बन व्याप रही यों ।
 मनसिज सेन्थो फागि घुमठ घुरि गयो गुलात ज्यो ॥
 फटिफ छटा मी किरन गुज रधन जय आउं ।
 मानहु पितन पितान मुदेस तनाय तनाई ॥
 मन्दमन्द चल पाग पन्द्रमा अति छवि पाई ।
 म्हाफत है जनो रमारमण पिय छौमुफ आई ।
 तव तीनी फरफमव जोयमाया मी मुग्ली । इत्यादि ।

यहाँ कविता के चित्र के लिए प्रकृति ने सचमुच ही विप्रपद्य का रूप लीया है ।

नन्दगमजी के तृतीय प्रकाश के प्रकृति-चरित्र में कोई विशेषता नहीं है। यह तदतोप दिव्यो पदियों में बहुत भारती है। पर यह ध्यान में रखा गया कि नन्दगम ने जो कुछ लिखा, अपनी प्रकृति के जोर से लिखा। प्रकृति का भिन्न भिन्न रूपों का प्रयोग केवल आश्चर्य तार के पदों में ही किया अत्यन्त है, पर बहुत कम। फारस पद ही कि वे फारस में आश्चर्य के उतने प्रेमी नहीं थे, जिनके भाव के। अत्यन्त ऐसे वर्णन जहाँ चर्चा भी आये हैं, यदि उनमें आश्चर्य है, तो भाव का भी समझा समझ नहीं है। वे लिखते हैं —

रही तुष्टमनाय इति रही रहीं प्रथम ।
 फिर से फिर मुसकरी सिरी है अथ फरिषर ॥

यहाँ माला टूटने का भाव इतना ज़बरदस्त है कि अलंकार की लगाम से ही वह रुक सकता है। और अलंकार भी इतनी बढ़िया रीति से 'फिट' हुआ है कि वह भाव की सुन्दरता को और भी अधिक परिवर्द्धित कर नेत्र के आगे चित्र-रूप में आसडा होता है। यह कविवर नन्ददास के प्रकृति-वर्णन की प्रतिभा का स्वरूप है।

अब हम रास-पञ्चाध्यायी की कुछ विशेषताओं पर विचार कर यह लेख समाप्त करेंगे।

विशेषताएँ कुछ विद्वानों का कथन है कि रास-पञ्चाध्यायी एक स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थ नहीं है। नन्ददासजी

ने श्रीमद्भागवत का भाषा में जो अनुवाद किया था उसीके एक हिस्से का रूप रास पञ्चाध्यायी है। हमें अभी इस बात पर बहस नहीं करनी है कि नन्ददासजी ने वास्तव में श्रीमद्भागवत का अनुवाद किया था या नहीं—सम्भव है किया हो, और न भी किया हो। हमें तो केवल यह विचार करना है कि रास-पञ्चाध्यायी एक स्वतन्त्र रचना है अथवा नहीं। जब हम पञ्चाध्यायी को गहरी दृष्टि से देखते हैं तो पता चलता है कि वह एक स्वतन्त्र रचना है। इसके कई कारण हैं। पहला तो यह है कि कवि ने आरम्भ में श्रीशुकदेवजी का शिखरस-वर्णन करते हुए बड़ा अच्छा मंगलाचरण लिखा है। यदि यह रचना

श्रीमद्भागवत की होती तो इसके आरम्भ में मगलाचरण लिखा ही नहीं जाता ।

दूसरा कारण स्वयं नन्ददामजी लिखते हैं कि उनके एक रमिक मित्र ने यह कथा लिखने के लिए उनमें अनुरोध किया था ।

तीसरा कारण यह है कि कथानक का प्रवाद एक ही वेग में आगे बढ़ता जाता है । उसका सम्बन्ध अन्य किसी कथानक में है भी नहीं । श्रीमद्भागवत के 'शत्रु' अध्याय में तो लिखा है कि चारु-दूरण के समय श्रीकृष्ण ने गोपियों को वचन दिया था कि वे शरदशतु में इसका क्या रास-गीत से देंगे; पर नन्ददाम जी की पन्नाध्यायी में इसका वही ज्ञान नहीं है । इसमें ज्ञान होता है कि यह एक स्वयं रचना है, जो अन्य कथाओं की दृष्टि में रचित है ।

एक कारण और है । स्वयं नन्ददामजी इस पन्नाध्यायी को इस प्रकार समझते हैं, यहाँ वे एक पूर्ण रूप की सतीत कर रहे हैं —

अपहरणो गच्छती सुन्दर प्रेम निधामे ।

नन्ददाम के एक कवि (जि गुरु गुरु ॥)

इसमें हम जानते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं ही कि नन्ददामजी ने

यह रचना स्वतंत्र रूप से लिखी है, इसका सम्बन्ध अन्य किसी ग्रन्थ की रचना से नहीं है।

दूसरी विशेषता है—इसकी भाषा। ब्रजभाषा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप यदि हम कहीं पा सकते हैं तो वह यह पञ्चाध्यायी ही है। भाषा का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक और सरस है। हम आज्ञाद के शब्दों में इनके लिए भी कह सकते हैं कि “इनके अल्फाज मोती की तरह रेशम पर ढलकते हुए चले आते हैं।” शब्दों का विकृत रूप कहीं भी देखने में नहीं आता। सभी शब्द यथास्थान इस प्रकार सजे हुए हैं, मानों किसी ने रत्नों को जड़ दिया हो। सचमुच नन्ददास ‘जडिया’ थे।

हे अरुनी नवनीत चोर चितचोर हमारे।

राखे कितहुँ दुराय धता देउ प्रानपियारे ॥

तीसरा गुण है इनके अनुप्रास की विशेषता। नन्ददासजी की रचना में अनुप्रास इस तरह स्वाभाविक रीति से चला आता है, मानो इनके शब्द-भण्डार में अनुप्रासयुक्त शब्दों के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था। अनुप्रास भी इस तरह आया है कि उससे भावों की लेश-मात्र भी क्षति नहीं होता। इसी में कवि की प्रतिभा का परिचय है।

जो रज अज सिव खोजत जोजत जोगी जन हिय ।

सो रज वन्दन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय ॥

इनकी रचना का चौथा गुण है चित्र-शक्ति। नन्ददासजी जिम वस्तु का वर्णन करते हैं, वह वर्णन इतना यथार्थ और स्वामात्रिक होता है कि उसका चित्र आँसों के नामने गूँ जाता है।

सुन्दर उदर उगार रोमाप्रति राजत भारी,
हिरो सरोवर रमभरि प्रति मनो उमैंगि पतारी।

इन शब्दों के प्रवाह में 'पतारी' के तीव्र गमन का चित्र है। रचना का पाँचवा गुण है ईश्वरोन्मुख प्रेम। प्रत्येक शृंगार-स्थल पर ईश्वर के प्रति भक्तिभाव की भी अभिव्यक्ति होती है। गोपिकाओं के विहार और गर्म का मतलब नन्ददासजी ने अन्तिम दो पदियों में दर्शा सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है।

निपट निपट घट में जो अन्तगान्ता की आर्षी।
बिधै विदुषिा इती पररि नरै गडि गार्डी ॥

रचना का छठा गुण है उनके शब्दों का पुनार। नन्ददासजी जैसे "पदुष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो संस्था कविता के भाव-व्यञ्जक हैं —

इन महकन गाली चार पगवर विपयोग्य।
रा पगवर पुनार गिरी गालर भवोग्य ॥

शब्दों 'महकन' 'पुनार' और 'गालर' शब्द विपयोग्य हैं। इन शब्दों के प्रयोगकर्ता महकन पद्यों की रचना व्यञ्जना में कोई नहीं।

रासपञ्चाध्यायी में गुण बहुत अधिक और दोष 'यदि हैं भी तो' बहुत कम हैं। हजारों गुणों के सामने दो-एक दोष छिप भी जाते हैं। एक स्थान पर एक-ही शब्द और एक ही भाव की पुनरुक्ति होने से काव्य का सौष्ठव नष्ट हो गया है —

वालकुँअर पौगण्ड धर्मरुचि लिये ललित तन ।
धर्मी नित्य किसोर ,कन्ह मोहत सन को मन ॥

यहाँ 'धर्म-रुचि' और 'धर्मी-एक' ही भाव के द्योतक होने से काव्य की सुन्दरता को खराब कर देते हैं।

एक स्थान पर उपमा का बहुत घुरा स्वरूप दृष्टिगन् होता है —

अधर सुधा के लोभ भई हम दासि तुम्हारी ।
जो लुब्धिन पदकमल, चचला कमला नारी ॥

कहीं-कहीं शब्द तथा वाक्य-रचना निम्न कोटि की हो गई है —

ध्रुविलसत जु विभूत जगत जगमग रहि जित तित ।
जो लक्ष्मी निज रूप रहत चरनन सेवत नित ॥

यहाँ विभूति का विलसता और लक्ष्मी का चरण-सेवा करने का संयोग कितना अस्पष्ट है ।

इन छोटे-मोटे क्षेपों से काव्य की महत्ता में अन्तर नहीं आ सकता। माधुर्य की दृष्टि में हिन्दी-साहित्य में राम-पञ्चाध्यायी एक ही रचना नजर आती है। महाकवि मुनशी और सूर चाहे और दोनों में नन्ददासजी में धारण मार ल जायें, पर माधुर्य में नन्ददासजी अद्वितीय है। यदि मुनशी की कविता भार्गवी-सी और सूर की पदानवी चतुता के सदृश है तो नन्ददास की माधुर कविता सरस्वती के समान क्षेप कविता विरेणी की पूर्ति करती है।

—रामानन्दर यन्त्रा

साहित्य-समालोचना

[ले० इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी के हिन्दी के प्रोफेसर
यावू रामकुमार वर्मा एम० ए०]

हिन्दी-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा के लिए स्वीकृत
पाठ्य-ग्रन्थ

इसमें कविता, कहानी, रङ्गमञ्च और समालोचना—हिन्दी-साहित्य के इन चार अङ्कों पर विशद विवेचन किया गया है। हिन्दी में इस ढंग की अभी तक कोई पुस्तक नहीं निकली। अगर आप हिन्दी-साहित्य के प्रेमी हैं तो हमारा यह दावा है कि आप इस पुस्तक को पढ़े बिना रह नहीं सकते। इन्टरमीजिएट से लेकर एम० ए० क्लास तक के हिन्दी के विद्यार्थियों तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा और उत्तमा परीक्षा के परीक्षार्थियों के लिए तो बड़े ही काम की चीज है। छपाई सफाई मनोहर सजिल्द प्रति का मूल्य १) मात्र

साहित्य-मन्दिर,

